पंजीयन संख्या : 68939/98

ज्ञान तत्व

सत्यता एवं निष्पक्षता का निर्भीक पाक्षिक

OCT 2025

अंक - 19

481

अपराध और अपराध नियंत्रण

3

अपराध और दंड: कारण, नियंत्रण और सामाजिक संतुलन

5

MARGDARSHAK

प्रकाशन की तिथि - 15-10-2025 पोस्ट की तिथि - 1-11-2025

सिंहावलोकन

9 **प्रश्नोत्तर**

14 **नयी समाज व्यवस्था**

16 **राजनैतिक चर्चा**

20 **ज़ूम कार्यक्रम का सारांश**

साथियों की कलम से -

21 **निरपेक्षता की कसौटी पर धर्म और पन्थ- (एक विमर्श-)**

23 **जीवन पथ**

प्रधान संपादक
बजरंग लाल अग्रवाल
(बजरंग मुनि)

संपादक मण्डल
नरेन्द्र सिंह
विपिन तिवारी
विपुल आदर्श

सहयोगी संपादक
ज्ञानेन्द्र आर्य

सदस्यता नियमन
संजय गुप्ता 872669477
कुशल दुबे 7999934238

सज्जा
लाल बाबू रवि

वितरण एवं मुद्रण सहयोग
रबीन्द्र विश्वास

पत्र व्यवहार का पता

बजरंग लाल अग्रवाल पोस्ट बाक्स 15, रायपुर (छ.ग.) 492021

website : margdarshak.info

प्रकाशक, संपादक व स्वामी - बजरंगलाल
9617079344
mail : Support@margdarshak.info

मुख्य कार्यालय-
ज्ञानयज्ञ परिवार आश्रम
रामानुजगंज छत्तीसगढ़ 497220
8318621282, 9630766001

लोक स्वराज अभियान
505 कृष्णा शिप्रा अजूरा अपार्टमेंट कौशांबी
गाजियाबाद 201012
9325683604, 9012432074

ज्ञान केन्द्र विचार, समन्वय और परिवर्तन के तीर्थ

अपराध और अपराध नियंत्रण

बजरंग मुनि
प्रधान संपादक

... अपराध, गैरकानूनी और अनैतिक को एक साथ मिला देने से यह प्रतिशत बढ़ जाता है। स्वाभाविक है कि भूसे के ढेर से सुई खोजना जितना कठिन होता है, उतना ही कठिन समाज के बीच से अपराधी को खोजना होता है...

धर्म, राष्ट्र और समाज रूपी तीन इकाइयों के संतुलन से व्यवस्था ठीक चलती है। यदि इन तीनों में से कोई भी एक खींचतान करने लगे तो अपराधों का बढ़ना स्वाभाविक है। दुनिया में इन तीनों में भारी असंतुलन पैदा हो गया है। धर्म का स्थान संप्रदाय ने, राष्ट्र का राज्य ने, और समाज का संगठित वर्गों ने ले लिया है। परिणाम दुनिया में स्पष्ट दिख रहे हैं।

अपराध दो प्रकार के होते हैं —

1.सामूहिक अपराध

2.व्यक्तिगत अपराध

पूरी दुनिया में सब मिलाकर जितने अपराध होते हैं, उनका 90 प्रतिशत धर्म और राष्ट्र के नाम पर किए जाते हैं। ये अपराध धर्म और राष्ट्र की अतिसक्रियता के परिणाम होते हैं। व्यक्तिगत अपराध पूरी दुनिया में बहुत कम होते हैं। फिर भी हम इस लेख के माध्यम से सिर्फ व्यक्तिगत अपराधों की चर्चा तक सीमित हैं। धर्म और राष्ट्र के नाम पर होने वाले अपराधों की चर्चा अलग से करेंगे।

सबसे बड़ी विडंबना यह है कि दुनिया में आज तक अपराध की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं बन सकी। और जब अपराधों की परिभाषा ही नहीं है, पहचान ही नहीं है, तो नियंत्रण कैसे संभव है? भारत में भी ऐसी कोई परिभाषा और पहचान अस्तित्व में नहीं है। न तो संविधान, न ही सरकार और न ही न्यायपालिका आज तक स्पष्ट कर सकी है कि अपराध क्या है।

व्यक्ति के अधिकार तीन प्रकार के होते हैं —

1.प्राकृतिक

2.संवैधानिक

3.सामाजिक

प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन अपराध होता है। संवैधानिक अधिकारों का उल्लंघन गैरकानूनी होता है, अपराध नहीं। सामाजिक अधिकारों का उल्लंघन अनैतिक होता है, न तो गैरकानूनी होता है, न ही अपराध। आश्चर्य है कि इतनी छोटी सी बात भी आज तक दुनिया में परिभाषित नहीं हो सकी, न ही भारत में हो सकी है। आप किसी अच्छे से अच्छे अंतरराष्ट्रीय या राष्ट्रीय विद्वान से पूछकर देखिए कि अपराध, गैरकानूनी और अनैतिक में क्या फर्क होता है, तो आपको पता चल जाएगा।

आप किसी से पूछकर देखिए कि भारत में अपराधियों की मात्रा का प्रतिशत क्या है — तो कोई आपको 50 बताएगा, कोई 90 और कोई 99। जबकि सच्चाई यह है कि भारत में अपराधियों और अपराधों का प्रतिशत कुल मिलाकर एक से दो के बीच होता है। अपराध, गैरकानूनी और अनैतिक को एक साथ मिला देने से यह प्रतिशत बढ़ जाता है। स्वाभाविक है कि भूसे के ढेर से सुई खोजना जितना कठिन होता है, उतना ही कठिन समाज के बीच से अपराधी को खोजना होता है। मैं नहीं कह सकता कि भारत में यह भ्रम जानबूझकर फैलाया गया या दुनिया की नकल करते हुए, किंतु यह सच है कि यह भ्रम सम्पूर्ण भारत में एक समान रूप में फैला हुआ है।

अपराध वृद्धि के कई कारण हैं — भारत में पुलिस और न्यायालय को इतना ओवरलोडेड बना दिया गया है कि वे अपराध की ठीक विवेचना कर ही नहीं पाते। पुलिस जल्दी-जल्दी अपरिपक्व विवेचना के आधार पर न्यायालय में मुकदमा प्रस्तुत करती है, तो न्यायालय धीरे-धीरे अनंतकाल तक उसके न्याय में बाल की खाल निकालता रहता है। न्यायालय आज तक यह नहीं समझ सका कि किसी अपराधी का निर्दोष छूट जाना भी पीड़ित के साथ

अन्याय है। न्यायालय को चाहिए था कि वह पुलिस को न्याय सहायक माने और पुलिस–न्यायालय की संयुक्त भूमिका को अपराध नियंत्रण का आधार। किंतु न्यायालय अपने को अपराधी और पुलिस के बीच न्यायकर्ता के रूप में स्थापित करने लगा, जिसका परिणाम हुआ कि अपराधियों का बहुमत निर्दोष सिद्ध होकर छूटने लगा।

दूसरा कारण यह रहा कि हमारी विधायिका कभी दायित्व और कर्तव्य का अंतर नहीं समझ सकी। सुरक्षा और न्याय राज्य का दायित्व होता है तथा अन्य जनकल्याणकारी कार्य उसके स्वैच्छिक कर्तव्य। हमारी विधायिका ने विदेशों की नकल करते हुए जनकल्याणकारी कार्यों को अपना दायित्व मान लिया और उन्हें प्राथमिकता देने लगी। स्वाभाविक था कि अपराध नियंत्रण पीछे छूट गया।

आज निकम्मे और परजीवी निरंतर शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी और भूख मिटाने के नाम पर इतनी बड़ी-बड़ी मांगें प्रस्तुत करते रहते हैं कि पुलिस और न्यायालय का बजट सौतेला दिखने लगता है। सम्पूर्ण भारत के कुल बजट का एक प्रतिशत से भी कम पुलिस और न्यायालय पर खर्च होता है, तो सेना पर तेरह प्रतिशत और अन्य जनकल्याण के कार्यों पर 86 प्रतिशत। इस एक प्रतिशत में भी 90 प्रतिशत घुसपैठ जनकल्याणकारी कार्यों की हो जाती है और कुल बजट का 10 नया पैसा ही वास्तविक अपराध नियंत्रण पर खर्च होता है।

कानून भी इतने गलत बनते हैं कि बंदूक और पिस्तौल को छोटा अपराध माना जाता है, तो अवैध गांजा और अवैध अनाज को अधिक गंभीर। यहां तक कि गंभीर अपराधों में दोष सिद्धि का भार पुलिस पर डाला गया है और संदेह का लाभ अपराधी को मिलता है, जबकि दहेज, वन अपराध, आदिवासी-हरिजन कानून जैसे मामलों में इसका ठीक विपरीत है। भारत में पश्चिम की नकल करते हुए सिद्धांत बना कि भले ही 99 अपराधी निर्दोष सिद्ध हो जाएं, किंतु एक भी निर्दोष दंडित न हो जाए। एक ओर तो इतना ऊंचा आदर्श और दूसरी ओर इतना लचर बजट — कोई तुलना ही नहीं हो सकती।

हमें समाधान के भी उपाय सुझाने होंगे। अपराध, गैरकानूनी और अनैतिक का साफ-साफ अंतर स्पष्ट करना होगा। हमें सरकार को भी समझाना होगा कि अपराध नियंत्रण उसका पहला दायित्व है और जनकल्याणकारी कार्य उसका स्वैच्छिक कर्तव्य। तदनुसार सरकार को अपनी बजट प्राथमिकताएं भी बदलनी होंगी।

न्यायपालिका को भी यह समझाना होगा कि उसे अपराध नियंत्रण की पहली प्राथमिकता माननी चाहिए। उसे यह भी समझना चाहिए कि पुलिस उसकी न्याय सहायक है, पक्षकार नहीं। यह बात भी भारत में साफ-साफ दिखती है कि देश के अनेक क्षेत्रों में लोग गवाही देने से डरते हैं। यदि कोई गवाही देता भी है तो उसकी सुरक्षा को खतरा है। यदि पुलिस कानून तोड़कर सुरक्षा देती है तो न्यायालय भी अपने प्रभाव का उपयोग करता है।

ऐसी परिस्थिति में एक तात्कालिक उपाय करना चाहिए — अर्थात अल्पकाल के लिए यह व्यवस्था होनी चाहिए कि किसी जिले का कलेक्टर, एस.पी. और जिला न्यायाधीश संयुक्त रूप से महसूस करें कि उस जिले के लोग भय के कारण गवाही नहीं दे पा रहे हैं, तो उस जिले में आपात व्यवस्था लागू कर सकते हैं। इसका अर्थ होगा कि उस जिले में कुछ गंभीर अपराधों का गुप्तचर न्यायालय में गुप्त मुकदमा चलेगा, जिसकी अपील भी गुप्तचर न्यायालय में ही होगी, और सर्वोच्च गुप्तचर न्यायालय का निर्णय अंतिम होगा, जो अपराधी कभी नहीं जान पाएगा।

वर्तमान समय में राज्य को न्यूनतम हिंसा और बल प्रयोग की जगह संतुलित हिंसा और बल प्रयोग का मार्ग अपनाना चाहिए। राज्य द्वारा दंड और हिंसा की मात्रा भय की आवश्यकता के अनुसार तय करनी चाहिए, किसी सिद्धांत के आधार पर नहीं। अल्पकाल के लिए कुछ अधिक कठोर दंड की भी व्यवस्था हो सकती है, और उसके अंतर्गत खुलेआम फांसी का भी प्रावधान किया जा सकता है। यदि उसके बाद भी स्थिति नियंत्रित होती न दिखे, तो यह भी घोषणा हो सकती है कि तीन महीने के अंदर पूरे देश से गुप्त मुकदमा प्रणाली के अंतर्गत 50 लोगों को फांसी और 500 को आजीवन कारावास दिया जाएगा।

अपराध नियंत्रण में धर्म और समाज की भी भूमिका होनी चाहिए। धर्म व्यक्ति को अपराध से बचने का मार्ग सुझाता है और समाज उसे अनुशासित करता है। प्राचीन समय में समाज की अपराध नियंत्रण में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिसे सामाजिक बहिष्कार कहा जाता था। मुस्लिम शासनकाल में बहिष्कार को हिंसा के साथ जोड़ दिया गया, तो अंग्रेजों के शासनकाल में बहिष्कार को पूरी तरह अपराध बना दिया गया। वास्तव में सामाजिक बहिष्कार अपराध नियंत्रण का एक मजबूत माध्यम है, जिसे कानूनी मान्यता भी मिलनी चाहिए — उस सीमा तक जब तक वह किसी के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन न करे और सामाजिक अधिकारों तक ही सीमित हो।

इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को परिवार व्यवस्था से भी जुड़ना अनिवार्य कर दिया जाए और यह घोषित किया जाए कि परिवार का कोई सदस्य यदि अपराध करता है और परिवार जानते हुए भी उसे न नियंत्रित करता है, न ही परिवार से निकालता है, तो उक्त व्यक्ति के अपराध के लिए परिवार को भी उत्तरदायी माना जा सकता है।

मैं समझता हूं कि अपराध नियंत्रण कोई असंभव कार्य नहीं है, यदि हम ठीक नीयत और ठीक योजना से मिलकर इस कार्य को करें। मुझे उम्मीद है कि अपराध नियंत्रण की दिशा में कुछ रचनात्मक प्रगति संभव होगी।

अपराध और दंड: कारण, नियंत्रण और सामाजिक संतुलन

दुनिया में जब से मानव की उत्पत्ति हुई होगी, उसके कुछ समय बाद ही अपराध भी शुरू हुए होंगे। बिल्कुल ही प्रारंभिक काल को छोड़कर कोई ऐसा समय नहीं आया होगा जब सृष्टि पर अपराध शून्य रहा हो। प्राचीन काल के विषय में तो सिर्फ कल्पना ही संभव है किन्तु जब से प्रत्यक्ष या किवदंती का भी इतिहास उपलब्ध है, तब से तो निरंतर अपराधों का अस्तित्व रहा ही है, चाहे उसकी मात्रा कम हो या अधिक।

व्यक्ति के अधिकार दो प्रकार के होते हैं —

1.स्वाभाविक, प्राकृतिक या मूल अधिकार

2.सामाजिक या संवैधानिक अधिकार।

यहां मूल अधिकार का आशय भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों से नहीं है क्योंकि संविधान में मूल अधिकार के संबंध में अनेक विसंगतियां मौजूद हैं। मेरा मूल अधिकार से आशय स्वाभाविक या प्राकृतिक अधिकारों से ही है जो किसी भी देश या काल में सिर्फ चार ही होते हैं —

1.जीने का

2.अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

3.संपत्ति

4.स्वनिर्णय।

इन मूल अधिकारों पर आक्रमण ही अपराध है। अपराध की स्पष्ट परिभाषा के आधार पर अपराध सिर्फ पांच ही हो सकते हैं —

1.चोरी, डकैती, लूट

2.बलात्कार

3.मिलावट, कमतौल

4.जालसाजी, धोखाधड़ी

5.हिंसा, आतंक, बल प्रयोग।

इन पांच को छोड़कर आज तक कोई भी कार्य न अपराध माना गया है न ही होगा क्योंकि चार प्रकार के मूल अधिकारों के उल्लंघन के ये पांच ही मार्ग होते हैं।

व्यक्ति के मूल अधिकारों के उल्लंघन को अपराध तथा सामाजिक या संवैधानिक अधिकारों के उल्लंघन को असामाजिक या गैर कानूनी कार्य कहते हैं। ये असामाजिक या गैर कानूनी कार्य अपराधों से बिल्कुल भिन्न प्रकृति के होते हैं। इन असामाजिक या गैर कानूनी कार्यों की पहचान, प्रभाव तथा नियंत्रण बिल्कुल भिन्न होता है। आमतौर पर प्रत्येक अपराध गैर कानूनी होता ही है किन्तु आवश्यक नहीं कि प्रत्येक गैर कानूनी कार्य अपराध हो ही। ऊपर लिखे पांच प्रकार के सभी अपराध गैर कानूनी हैं किन्तु इन पांच को छोड़कर अन्य हजारों प्रकार के कानूनों का उल्लंघन गैर कानूनी होते हुए भी अपराध नहीं। इनमें आदिवासी, हरिजन, महिला संबंधी विशेष कानून, तस्करी, ब्लैक, शराब, गांजा, अफीम, हेरोइन आदि का उपयोग या व्यवसाय, टैक्स चोरी, दहेज, बालविवाह, आत्महत्या, स्वैच्छिक सतीप्रथा, छुआछूत, वन अपराध, वेश्यावृत्ति आदि शामिल हैं। इन गैर कानूनी कार्यों से किसी व्यक्ति के मूल अधिकारों पर कोई आक्रमण नहीं होता, भले ही उसके संवैधानिक अधिकारों का उल्लंघन क्यों न होता हो।

यद्यपि सभी अपराध गैर कानूनी घोषित हैं किन्तु अपवाद स्वरूप मकान किराया कानून कुछ ऐसा बना है जिसमें किसी के मकान को किराये में लेकर खाली न करना अपराध होते हुए भी कानूनसम्मत है। मैं आज तक नहीं समझ सका कि भारत के किन नासमझों ने ऐसा कानून बनाया किन्तु आज भी ऐसा कानून भारत में मौजूद है। ऐसे और भी कानून हो सकते हैं जो अभी मेरे ध्यान में नहीं हैं। ऐसे कानूनों का होना आश्चर्यजनक है।

गैर कानूनी कार्यों को अपराध मानने और घोषित करने के दो कारण संभव हैं —

1. जब शासक में समझदारी की अपेक्षा शराफत अधिक हो, भावना प्रधान हो, उच्च आदर्शवादी हो। स्वतंत्रता के बाद के प्रारंभिक काल में कुछ ऐसी ही स्थिति थी। इस स्थिति में

शासक भूलवश ऐसा करता है।
2.जब शासक अपराधियों के चंगुल में हो। वर्तमान स्थिति ऐसी ही है। इस स्थिति में शासक जान-बूझकर ऐसा करता है।
गैर कानूनी कार्यों को अपराध घोषित कर देने से अपराधों की पहचान भी कठिन हो जाती है और नियंत्रण भी। अपराध नियंत्रण में यह एक प्रमुख बाधक तत्व है।
अपराध दो कारणों से होते हैं —
1.मजबूरी
2.स्वार्थ।
सर्वेक्षण से स्पष्ट हुआ है कि पंद्रह से बीस प्रतिशत अपराध ही मजबूरी में होते हैं अन्यथा आम तौर पर अपराध स्वार्थ के कारण ही होते रहे हैं। जो लोग गरीब और शक्तिहीन हैं वे शायद ही एक-दो प्रतिशत अपराध करते हों। अपराध या तो धनी लोग करते हैं या शक्तिसम्पन्न — चाहे वे शारीरिक रूप से शक्तिशाली हों या राजनैतिक-सामाजिक रूप से।
अपराध नियंत्रण के तीन मार्ग माने जाते हैं —
1.परिस्थिति परिवर्तन
2.हृदय परिवर्तन
3.भय।
परिस्थिति परिवर्तन एक निरंतर चलने वाली सतत प्रक्रिया है जिसका प्रभाव अपराध नियंत्रण की प्रक्रिया में सिर्फ परोक्ष ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं। हृदय परिवर्तन का प्रभाव स्थायी तथा दूरगामी होता है किन्तु नगण्य होता है। गांधी हत्या के बाद हृदय परिवर्तन का सिर्फ एक प्रयास ही सफल हुआ जिसमें भिंड-मुरैना के अनेक दुर्दांत डाकुओं ने आत्मसमर्पण किया। इस एक सफलता के अतिरिक्त हृदय परिवर्तन को कहीं कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। अपराध नियंत्रण के लिए सबसे अधिक प्रचलित और उपयोगी तरीका भय का ही है जो प्रारंभ से आज तक एक समान उपयोगी बना हुआ है। भय तीन प्रकार का होता है —
1.ईश्वर का
2.समाज का
3.सरकार का।
इन तीनों का उपयोग समान परिणाम देता है। प्राचीन समय में पहले और दूसरे मार्ग का अधिक और तीसरे का नगण्य उपयोग होता था। आम लोग धर्मप्रधान भी थे तथा समाज व्यवस्था भी मजबूत थी। इसलिए बहुत कम मामलों में शासकीय हस्तक्षेप की आवश्यकता होती थी। धीरे-धीरे ईश्वरीय भय अपराध नियंत्रण में प्रभावशून्य हो गया।
बड़े-बड़े डकैत धर्म का उपयोग अपराध सहायक रूप में करने लगे हैं। अब तो स्थिति यह हो गई है कि धर्म का अर्थ आचरण और गुणों से हटकर संगठन के रूप में हो गया है। अपराध नियंत्रण का दूसरा आधार ''सामाजिक शक्ति'' भी निष्प्राण हो गई है। समाज का कोई स्वरूप रहा ही नहीं। अब तो अनेक अपराधी ही समाज से सुरक्षा पाने लगे हैं क्योंकि समाज का स्थान भी शासन ने ले लिया। ले देकर शासन ही एकमात्र ऐसी इकाई बची है जो अपराध नियंत्रण में भय का उपयोग कर सकती है। अतः कुल मिलाकर शासन व्यवस्था से ही कोई तात्कालिक संभावना दिखती है, यही कारण है कि हम इस विषय पर गंभीरता से विचार कर रहे हैं।
भय पैदा करने के लिए दंड ही एक मात्र मार्ग है क्योंकि ईश्वरीय भय और सामाजिक बदनामी का भय प्रभावहीन हो गया है। दंड का संतुलन कुछ इस तरह का होना चाहिए कि अपराधी भयभीत हो और सामाजिक व्यक्ति भयमुक्त। दंड की मात्रा और अपराधी की पहचान अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दे हैं। यदि दंड की मात्रा कम होगी तो अपराधियों की शक्ति कम होने की अपेक्षा उसी तरह बढ़ती है जिस तरह मच्छरों या बीमारियों में उपयोग की गई दवा की कम मात्रा विपरीत प्रभाव डालती है। इसी तरह यदि अपराधी की ठीक-ठीक पहचान नहीं हुई तो दंड समाज पर विपरीत भावनात्मक प्रभाव छोड़ता है। इन सब के साथ-साथ दंड का उपयोग इस तरह हो कि वह प्रतीकात्मक परिणाम दे अर्थात् दंड अन्य अपराधियों में भय उत्पत्ति का माध्यम बने। तानाशाही व्यवस्था में तो यह काम बिल्कुल आसान है किन्तु प्रजातंत्र में इसके लिए बहुत सतर्कता की आवश्यकता है। इस सतर्कता के लिए न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका में बहुत सामंजस्य की आवश्यकता है। अपराध नियंत्रण में कार्यपालिका का प्रतिनिधित्व पुलिस करती है। भारत में वर्तमान स्थिति ऐसी है कि भारत के अपराधी तो लगभग भयमुक्त हो गए तथा आम नागरिक पुलिस से भी भयभीत है और अपराधियों से भी। अपराधियों का कानून पर विश्वास बढ़ा है और नागरिकों का घटा है। भागलपुर में नागरिकों के इशारे पर पुलिस ने अपराधियों की आंख फोड़कर नागरिकों से प्रशंसा प्राप्त की। नागपुर की महिलाओं ने अक्कू यादव की न्यायालय परिसर में ही हत्या करके सम्पूर्ण भारत के नागरिकों का सम्मान प्राप्त किया। आज स्थिति ऐसी हो गई है कि आम नागरिक कानून को नपुंसक मानकर अपराधियों को प्रत्यक्ष दंडित करने में विश्वास करने लगे हैं। कानून और समाज के बीच दूरी बढ़ गई है। भारत में हो रहे कुल अपराधों में सजा का प्रतिशत घटकर एक से भी कम रह गया है। पंचानवे प्रतिशत अपराध तो अब थाने तक ही नहीं पहुंचते। पांच प्रतिशत में से कुछ पुलिस में, कुछ कोर्ट में छूट जाते हैं। एकाध को कभी सजा हो पाती है। संभवतः अपराधों में सजा का यह प्रतिशत भारत सरीखे कुछ दक्षिण एशियाई देशों को छोड़कर न पश्चिम के लोकतांत्रिक देशों में है न पूर्व के साम्यवादी देशों में।

ऐसा हुआ क्यों?
इसके निम्न कारण हैं —

1.पुलिस और न्यायालय पर अत्यधिक दायित्व बढ़ना

भारत में कुल बजट का लगभग एक प्रतिशत पुलिस और न्यायालय पर खर्च होता है। स्वतंत्रता के समय भी यह मात्रा एक प्रतिशत ही थी। किंतु उस समय की तुलना में आज पुलिस और न्यायालयों पर लगभग पच्चीस गुना अधिक बोझ डाल दिया गया है।

अब गांजा-भांग, बालविवाह, दहेज, आदिवासी, हरिजन, महिला आदि से संबंधित हजारों ऐसे गैर कानूनी कार्य हैं, जिन्हें अपराध घोषित करके पुलिस और न्यायालय पर डाल दिया गया है। आश्चर्य की बात है कि बजट में कोई वृद्धि किए बिना अपराधों की संख्या बढ़ाने की लगातार कोशिश की गई।

इससे वास्तविक अपराध और अपराधियों की पहचान लगभग समाप्त हो गई, जैसे नकली वस्तुओं के ढेर में असली वस्तु की पहचान कठिन हो जाती है।

परिणामस्वरूप पुलिस और न्यायालय दोनों ही अपने दायित्वों से दबकर असक्षम हो गए। सजा में अत्यधिक विलंब होने लगा और न्याय मिलना कठिन हो गया।

इस कठिनाई का समाधान संभव है यदि:

a)पुलिस और न्यायालय पर व्यय, सम्पूर्ण बजट का प्रारंभिक दो वर्षों तक 20% किया जाए और बाद में घटाकर 5% पर स्थिर किया जाए।

b)पाँच प्रकार के अपराधों को छोड़कर अन्य सभी गैर कानूनी कार्यों की समीक्षा की जाए। इनमें से केवल कुछ अत्यावश्यक कानून शासन अपने जिम्मे रखे और शेष को या तो समाप्त कर दे या स्थानीय इकाइयों को सौंप दे।

c)इन चुने हुए गैर कानूनी कार्यों की रोकथाम किसी विशेष विभाग और विशेष न्यायालय को दी जाए ताकि सामान्य पुलिस और सामान्य न्यायालय पर अतिरिक्त बोझ न पड़े।

मानवाधिकार कार्यकर्ताओं द्वारा अप्रत्यक्ष अपराधी सहायता

जिस प्रकार सन् 1947 में संघ की विचारधारा को गांधी हत्या में अप्रत्यक्ष सहायक माना गया था, उसी प्रकार वर्तमान समय में मानवाधिकार के नाम पर काम करने वाले कई संगठनों की भूमिका अपराध वृद्धि में देखी जा सकती है।

अनेक अपराधी भी मानवाधिकार संगठनों में शामिल होकर काम करने लगे हैं। अब तक शायद ही कोई उदाहरण मिला हो, जिसमें किसी मानवाधिकार संगठन ने किसी अपराधी को पकड़वाने या उसे सजा दिलाने में मदद की हो।

यदि पुलिस किसी अपराधी को न पकड़े, तो ये पुलिस के विरुद्ध आंदोलन करते हैं। और यदि पुलिस उसे पकड़ने या पूछताछ में कोई भूल कर दे, तो फिर उसी पुलिस के खिलाफ प्रदर्शन करने लगते हैं। मानवाधिकार के नाम पर काम कर रहे इन लोगों की यदि पूरी तरह जांच की जाए, तो पाया जाएगा कि -

(क) ये कभी अपराधियों को पकड़वाने या सजा दिलाने में सहायक नहीं रहे।

(ख) ये कोई उत्पादक कार्य नहीं करते। यदि इनके भरण-पोषण की जांच की जाए, तो अधिकांश लोग विदेशों से, भारतीय पूंजीपतियों से या शासकीय धन से पोषित पाए जाएंगे।

(ग) इनका प्रत्येक कार्य वस्तुतः वास्तविक अपराधियों के पक्ष में ही प्रारंभ होता है।

मुझे याद है, अंसल प्लाज़ा में दो आतंकवादियों को पकड़कर नकली मुठभेड़ में मारने के नाम पर ऐसे ही कुछ मानवाधिकारी ठेकेदारों ने शोर मचाया था। कुछ महीने पहले गुजरात पुलिस द्वारा चार आतंकियों को मारने के प्रकरण में भी इशरत जहां को हीरो बनाकर इन पेशेवर मानवाधिकार कार्यकर्ताओं ने हंगामा किया था।

राजनीतिक दलों का उस हल्ले में स्वार्थ समझ में आता है, किंतु ये मानवाधिकारी किस उद्देश्य से ऐसी निर्लज्जता पर उतर आए — यह विचारणीय है।

अंततः दो ही दिनों में सच्चाई सामने आ गई और हल्ला करने वालों के मुँह बंद हो गए।

मेरे विचार में, पूरे भारत में ऐसे पेशेवर लोगों की जांच की जानी चाहिए —

- उनकी आय के स्रोत क्या हैं?
- वे किन उद्देश्यों से समाज सेवा का दावा करते हैं?
- क्या वे केवल अपराधियों के पक्ष में आवाज उठाते हैं या कभी उनके विरुद्ध पुलिस और न्यायालय की सहायता भी करते हैं?

(घ) भारतीय कानूनों में ऐसा संशोधन किया जाए कि पाँच प्रकार के अपराधों में सबूत का भार अपराधी पर हो, या प्रारंभ में ही अपराधी का विस्तृत बयान न्यायालय में लिया जाए। मुलजिम के बयान के साथ ही न्यायिक कार्यवाही प्रारंभ हो।

(च) आम तौर पर भारत में पुलिस को अधिक शक्ति देने की बात होती रही है। पोटा (POTA) जैसा कानून इसका उदाहरण है। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से किसी न किसी रूप में ऐसे कानूनों पर चर्चा चलती रही है।

मैं पुलिस को ऐसे अधिकार देने के पक्ष में नहीं हूँ, क्योंकि ऐसे कानूनों का राजनीतिज्ञ दुरुपयोग कर सकते हैं।

लेकिन मैं पोटा से भी अधिक कठोर कानून का पक्षधर हूँ — जो न्यायालयों को शक्ति प्रदान करे और राजनेताओं की छाया से दूर रहे।

मेरे विचार में अपराधियों के भय से गवाहों का मुकर जाना एक बड़ा कारण है। सामान्य परिस्थितियों में किसी विशेष

कानून की आवश्यकता नहीं, किंतु जहाँ किसी जिले के कलेक्टर, एस.पी. और जिला जज मिलकर यह महसूस करें कि स्थिति गंभीर है, वहाँ न्यायपालिका को विशेषाधिकार दिए जाएँ।

इसके अंतर्गत न्यायालयों को एक गुप्तचर जांच शाखा दी जाए, जो गुप्त पुलिस से प्राप्त गंभीर मामलों पर जांच कर सजा दे सके। सारी न्यायिक कार्यवाही पुलिस या अपराधी से गुप्त रखी जाए।

पुलिस या अपराधी ऊपरी न्यायिक गुप्तचर शाखा में अपील कर सकें, जो पुनः जांच कर निर्णय दे। यह संशोधन अत्यंत प्रभावकारी सिद्ध होगा।

बिहार जैसे राज्यों के नामी अपराधी इस कानून से काँप जाएंगे। इससे राजनेताओं में भी स्वतः सुधार होगा।

बिहार के सुधरते ही पूरे देश में अपराधी भयभीत हो जाएंगे।

मैं जानता हूँ, कुछ लोग इस कानून की आलोचना करेंगे कि इसमें अपराधी को सफाई का अवसर नहीं मिलता या इसके दुरुपयोग की आशंका है।

मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैं ऐसे कानून का समर्थक केवल आपात क्षेत्र और सीमित अवधि के लिए हूँ।

यदि कोई इससे बेहतर सुझाव दे, तो मैं उस पर विचार करने को तैयार हूँ।

(छ) दंड का मानवीय होना भी नासमझी की बात है। इसका उलटा असर होता है।

अपराधी को दंड मिलना हमारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए; हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि दंड प्रतीकात्मक और भय उत्पन्न करने वाला हो।

देश के अनेक बुद्धिजीवी दंड को "मानवीय" बनाने की वकालत करते हैं। मेरे मन में ऐसे लोगों के बुद्धिजीवी होने पर ही संदेह होता है। वे सज्जन, दयालु या संत प्रवृत्ति के हो सकते हैं, लेकिन बुद्धिजीवी नहीं।

दंड का तरीका ऐसा होना चाहिए जो भय उत्पादक हो। उसका स्वरूप और मात्रा किसी सैद्धांतिक सिद्धांत पर नहीं, बल्कि तात्कालिक परिस्थितियों पर निर्भर करनी चाहिए।

वर्तमान वातावरण में बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में दंड का तरीका अधिकतम कठोर होना चाहिए, भले ही अन्य प्रदेशों में कुछ नरमी बरती जाए।

हाल ही में धनंजय की फांसी का मुद्दा उठा। वही लोग जिन्होंने अक्कू यादव की हत्या का समर्थन किया, वे दागी मंत्रियों के मामलों में चुप हैं।

अब हम स्वयं सोचें —

क्या धनंजय की फांसी का विरोध करने वालों ने कभी बलात्कार या जघन्य हत्या के किसी मामले में अपराधी को पकड़वाने या सजा दिलाने में पुलिस की सहायता की है?

क्या उनके पास ऐसा कोई उपाय है जिससे अपराधियों में भय उत्पन्न हो?

यदि नहीं, तो वे बुद्धिजीवी नहीं माने जा सकते।

अक्कू यादव प्रकरण में महिलाओं का पक्ष लेने वाले यह बताएं — यदि वही घटना पुलिस हिरासत में होती तो क्या वे पुलिस का समर्थन करते या विरोध?

यदि अक्कू यादव को नियमानुसार मुकदमा चलाकर न्यायालय परिसर में दिन-दहाड़े फांसी दी जाती, तो क्या वे उसका समर्थन करते या विरोध?

दागी राजनेताओं के प्रकरणों में भी यही प्रश्न है — क्या हमारे बुद्धिजीवियों ने कभी इन नेताओं की गिरफ्तारी की मांग की?

क्या उन्हें पता नहीं था कि ऐसे मंत्री अनेक गंभीर अपराधों में आरोपी और फरार हैं?

क्या कानून की सहायता करना बुद्धिजीवियों का कर्तव्य नहीं होना चाहिए?

भारत के बुद्धिजीवियों को इन प्रश्नों के उत्तर देने चाहिए।

इस प्रकार, यदि हम—

1.गैर कानूनी कार्यों को अपराध की श्रेणी से हटाएं,
2.न्यायिक प्रक्रिया में आवश्यक संशोधन करें,
3.न्यायालयों को विशेष परिस्थितियों में गुप्तचर सेवा का उपयोग करने की अनुमति दें,न,...
4.और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं को सही दिशा दें—

तो मात्र तीन महीने में ही अपराधों पर प्रभावी रोक लगाई जा सकती है।

अपराध नियंत्रण कोई लाइलाज बीमारी नहीं है। आवश्यकता है कि हम कम बल प्रयोग करने की अपेक्षा संतुलित और आवश्यक बल प्रयोग करें।

सामाजिक सोच में भी बदलाव जरूरी है।

अब तक पूरे भारत में यह सोच रही है कि जब तक किसी व्यक्ति के विरुद्ध अपराधी होने का पर्याप्त आधार न हो, तब तक वह मानवीय सहायता का पात्र है।

हम उसे निरपराध मानकर सहायता करते हैं।

मेरे विचार में यह सोच बदलनी चाहिए।

अब हमें यह मानना होगा कि जब तक किसी के शरीफ होने का पर्याप्त आधार न हो, तब तक उसे निरपराध मानकर सहायता नहीं करनी चाहिए।

यदि आप किसी अपराधी की भूलवश भी सहायता करते हैं, तो आपका कार्य दोषपूर्ण है, भले ही जानबूझकर न किया गया हो।

लापरवाहीपूर्वक किया गया ऐसा कार्य सामाजिक अपराध है — यह समझना आवश्यक है।

तभी अपराध रोकना आसान होगा।

यह कार्य बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि मैं स्वयं लंबे समय से इसी नीति पर चल रहा हूँ।

मुझे पूरा विश्वास है कि समाज और शासन के सामंजस्य से यह काम सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न : श्री आयुष्मान सिंह, आजमगढ़, उत्तर प्रदेश

प्रश्न : मैंने आपकी बहुचर्चित पुस्तक अपराध और नियंत्रण को ध्यान से पढ़ा। आपने अपराध की परिभाषा में व्यक्ति के मूल अधिकार हनन को मुख्य माना है। क्या शोषण अपराध नहीं है, जो आपने उसे अपराध से अलग रखा है?

उत्तर :

शोषण शब्द की परिभाषा मेरे विचार में यह है — "किसी मजबूत व्यक्ति द्वारा किसी कमजोर की मजबूरी का लाभ उठाना या उठाने का प्रयास करना।" यदि किसी कमजोर द्वारा मजबूत से ऐसा लाभ लिया जाता है तो वह शोषण नहीं माना जाता।

शोषण चार प्रकार का होता है —

1.बुद्धिजीवियों द्वारा श्रमजीवियों का शोषण

2.राजनीतिक शक्ति प्राप्त व्यक्तियों द्वारा सामान्य नागरिकों का शोषण

3.धनवानों द्वारा धनहीनों का शोषण

4.धूर्तों द्वारा शरीफों का शोषण

वर्तमान समय में चारों प्रकार के शोषण समाज में अस्तित्व में हैं। शोषण को रोकने के दो ही मार्ग हैं —

1.समाज द्वारा

2.कानून द्वारा

समाज का अस्तित्व ही नहीं होने से उसका कोई प्रभाव नहीं है। कानून स्वयं में शोषण के माध्यम बने हुए होने से एक शोषण कम होकर दूसरा शोषण बढ़ जाता है। वर्तमान समय में अनेक ऐसे कानून हैं जो शोषण रोकने के नाम पर बनने के बाद भी शोषण के आधार बने हुए हैं। न्यूनतम मजदूरी के कानून श्रम शोषण पर नियंत्रण हेतु बनाए गए थे, किंतु ये कानून ही स्वयं में शोषण के बड़े माध्यम बने हुए हैं।

शोषण स्वयं में कोई अपराध नहीं है, बल्कि अनैतिक है। हम शोषण को असामाजिक कार्य कह सकते हैं, किंतु समाज-विरोधी नहीं। शोषण करना अच्छा कार्य नहीं है, किंतु इसे शासकीय कानूनों से रोकने का प्रयास घातक है क्योंकि शोषण बहुत व्यापक अर्थ रखता है तथा किसी व्यक्ति के मूल अधिकार पर कोई आक्रमण या कटौती नहीं करता।

किसी जंगल में प्यास से तड़प रहे एक राजा को एक गिलास पानी के बदले उसका आधा राज्य मांगने वाली बुढ़िया तथा एक गरीब महिला को ऐसे ही प्यास से तड़पने की परिस्थिति में किसी संपन्न व्यक्ति द्वारा उसकी जमीन लिखवाकर पानी देने में दोनों उदाहरण लगभग समान होते हुए भी पहला शोषण नहीं है और दूसरा है। दूसरा उदाहरण शोषण होते हुए भी अपराध नहीं है, भले ही हम उसे अमानवीय कह सकते हैं।

आज भारत में शोषण के विरुद्ध बहुत योजनाएं बनाई जाती हैं। शोषण वास्तव में एक हथियार बना हुआ है शोषण करने का। शोषण शब्द का सर्वाधिक प्रयोग साम्यवादी अथवा समाजवादी किया करते हैं, किंतु उनकी व्यवस्था में आर्थिक शोषण का स्थान राजनीतिक शोषण या अपराध ले लिया करता है।

भारत में बुद्धिजीवियों द्वारा श्रम का जैसा शोषण हो रहा है, उसमें शोषण शब्द का महत्वपूर्ण स्थान है। छत्तीसगढ़ के श्रमिक वर्षाकाल के बाद छत्तीसगढ़ के बाहर रोजगार के लिए पलायन किया करते हैं। इस पलायन से छत्तीसगढ़ के श्रम खरीदने वालों को कष्ट होता था क्योंकि श्रम अभाव तथा श्रम मूल्य बढ़ जाता था। इन श्रमिकों का पलायन रोकने का कानून उनका शोषण रोकने के नाम पर ही बनाया गया। आज वे मजदूर या तो अधिकारियों को पैसा देकर पलायन कर रहे हैं अथवा यहीं रहकर औने-पौने मूल्य पर अपना श्रम बेचने के लिए मजबूर हैं। ऐसे सैकड़ों कानून बने हैं जो शोषण रोकने के नाम पर शोषण करने के लिए बनाए गए हैं।

एक दूसरा उदाहरण और देखें — श्रम शोषण रोकने का एक ही मार्ग है "श्रम प्रधान रोजगार के अवसर पैदा करना।" हमारी सरकार रोजगार के अवसर उत्पन्न करने के स्थान पर रोजगार देने के काम में लगी है। साथ ही वह श्रम प्रधान रोजगार के स्थान पर शिक्षित बेरोजगारी दूर करने में लगी है। रोजगार देने के प्रयास स्वयं में रोजगार के अवसर घटाते हैं तथा शिक्षित बेरोजगारी दूर करना तो स्वयं में ही श्रम के विरुद्ध बुद्धिजीवियों का षड्यंत्र है।

इस तरह मुझे यह स्पष्ट दिखता है कि भारत में यदि शोषण को काबू में करना है तो शोषण रोकने के सारे शासकीय प्रयास बंद कर देने चाहिए। यदि कोई व्यक्ति शोषण करता है तो गांव के लोग उसका उपाय खोजेंगे — सरकार नहीं।

शोषण अपराध है या नहीं, यह बिल्कुल विवादास्पद नहीं है। कोई व्यक्ति यदि किसी का कोई काम अस्वीकार कर सकता है और वह अपराध नहीं है, तो वही काम उस व्यक्ति से किसी सहमत समझौते के आधार पर करना क्यों अपराध हो सकता है? यह समझौता भले ही कितना ही अमानवीय क्यों न हो — जैसे किसी आदमी से एक दिन पूरा काम कराकर पच्चीस रुपये देना यदि अपराध है, तो उस व्यक्ति को पच्चीस रुपये में भी काम न देने वाला उससे भी बड़ा अपराधी है।

जो समाज न्यूनतम श्रम मूल्य घोषित करता है, उसका यह दायित्व भी है कि वह उक्त श्रम मूल्य पर काम की व्यवस्था करे। यदि नहीं करता है, तो दोषी वह है जो न्यूनतम श्रम मूल्य घोषित करके भी काम नहीं देता, न कि वह जो कम मूल्य पर काम देता है। इस तरह कम मजदूरी देना शोषण हो सकता है, किंतु अपराध नहीं।

मेरे विचार में ऐसा कोई भी शोषण है ही नहीं जो अपराध हो। यदि ऐसा कोई शोषण है, तो वह शोषण न होकर सीधा-सीधा अपराध ही है।

प्रश्न : श्री अरविंद दुबे, रायबरेली, उत्तर प्रदेश

प्रश्न : आपके ज्ञान तत्व से पता चला कि रामानुजगंज शहर में अपराध नियंत्रण का सफल प्रयोग हुआ है। आज समाज में अपराधियों की संख्या लगभग पचानवे प्रतिशत से भी अधिक है तथा लगातार बढ़ रही है। प्रश्न उठता है कि ऐसी विकट स्थिति में यह कार्य कैसे संभव है? आप विस्तार से प्रकाश डालें कि इतना अपराध क्यों बढ़ा और नियंत्रण कैसे संभव होगा?

उत्तर :

अक्टूबर बीस को मैं जलगांव में था। वहां भी शिविर में यह प्रश्न उठा। लगभग सभी उपस्थित साथियों ने समाज में अपराधियों का प्रतिशत नब्बे से अधिक बताया। किसी-किसी ने तो निन्यानवे प्रतिशत तक बताया। सबका यह कहना था कि चरित्रवान लोगों का प्रतिशत इतना कम हो गया है कि उनके दिन-रात प्रयत्नों के बाद भी अपराधी घटने के स्थान पर बढ़ रहे हैं। मैंने उन्हें विस्तार से समझाया कि ये चरित्रवान लोग किस तरह नासमझी से जमीन पर लाठी पीट रहे हैं जबकि सर्प तो बिल में घुसा है।

सच्चाई यह है कि समाज में तीन प्रकार के लोग हैं —

1.अच्छे आदमी

2.बीच के लोग

3.अपराधी

समाज में वर्तमान समय में अच्छे लोगों का प्रतिशत लगभग एक है — जो लोग समाज सेवा भी करते हैं और समाज की चिंता भी करते हैं। अपराधियों का प्रतिशत दो है — जो लोग सदा समाज पर अत्याचार करते हैं तथा दूसरों का अहित करके अपना हित करते हैं। शेष सत्तानवे प्रतिशत लोग समाज की सामान्य परंपरा अनुसार अपना जीवन-यापन करते हैं। ये लोग न समाज की सेवा करते हैं, न ही समाज पर अत्याचार। ये लोग सिर्फ अपने परिवार तक सीमित रहते हैं।

जब समाज में अच्छे लोगों का वर्चस्व होता है, तो ये बीच के लोग अच्छे लोगों के साथ जुड़ जाते हैं। और जब समाज में बुरे लोग मजबूत होते हैं, तब ये लोग उन अपराधियों के साथ समझौता कर लेते हैं। ये सत्तानवे प्रतिशत लोग कभी अपराध नहीं करते, किंतु कभी उनसे टकराते भी नहीं। अच्छे लोगों को परिस्थिति अनुसार इन बीच वालों से व्यवहार करना चाहिए। जब समाज शक्तिशाली हो, तब इन बीच वालों से दूरी बनाकर रखनी चाहिए, और जब अपराधी मजबूत हों, तब इन बीच वालों को साथ लेकर चलना चाहिए।

आज समाज कमजोर और अपराधी मजबूत हैं। हमारे चरित्रवान लोगों को चाहिए था कि बीच के लोगों से संबंध ठीक रखें, किंतु हुआ इसके ठीक विपरीत। इन एक प्रतिशत चरित्रवानों ने बीच वालों को भी अपराधी मानना शुरू कर दिया, और इस भूल का दुष्परिणाम हुआ कि अपराधी तो नेपथ्य में चले गए और बीच वालों से अच्छे लोगों का संघर्ष शुरू हो गया। दो प्रतिशत धूर्त अपराधियों ने अपना ऐसा मायाजाल फेंका कि चरित्रवान लोग अपनी सारी शक्ति सत्तानवे प्रतिशत पर खर्च करने लगे और दो प्रतिशत अपराधी पूरी तरह सुरक्षित हो गए।

इन धूर्तों के मायाजाल ने हमारी सोच पर ऐसा पर्दा डाला कि हमारे चरित्रवान लोग डकैती, बलात्कार और आतंकवादियों के तो हृदय परिवर्तन की वकालत करने लगे, किंतु जुआ, गांजा, शराब, वैश्यावृत्ति के विरुद्ध कानूनी प्रतिबंध लगवाकर उन्हें दंड दिलाने लगे। अपराधियों ने स्वयं को सुरक्षित करने के लिए अपराध शब्द की परिभाषा ही बदल दी। उन्होंने तस्करी, वैश्यावृत्ति, शोषण, दहेज, छुआछूत, बाल विवाह आदि गैरकानूनी कार्यों को अपराध घोषित कर दिया, और हम अच्छे लोग भी उन अपराधियों की हां में हां करने लगे। चरित्रवान लोगों का अपने चरित्र का अहंकार इस सीमा तक बढ़ा कि उन्हें निन्यानवे प्रतिशत समाज अपराधी दिखने लगा।

मैंने वहाँ पुलिस वालों से एक समझौता किया कि वे सिर्फ अपराध रोकने और अपराधों मे किसी तरह का घूस नहीं लेंगे। हम समाज के लोग उनकी मदद करेंगे। हम समाज के लोग जुआ, शराब, गाँजा, वेश्यावृत्ती आदि पर रोक लगाएंगे, पुलिस हमारी मदद करेगी। लेकिन ऐसे गैरकानूनी कामों में पुलिस वाले घूस ले सकते हैं क्योंकि घूस कोई सामाजिक अपराध नहीं है।

मैंने रामानुजगंज में सबसे पहले अपराधियों के लिए एक पृथक श्रेणी निर्धारित करके उन्हें बीच वालों से पृथक किया। चरित्रवानों को एक नंबर, गैरकानूनी कार्य वालों को दो नंबर और अपराधियों को तीन नंबर की पहचान दी। दो नंबर वालों से तादात्म्य स्थापित किया और स्वयं को भी दो नंबर का घोषित किया।

मैं स्वयं आर्य समाजी हूं। मेरे पूरे परिवार में शराब, जुआ, तंबाकू, पान तक का सेवन नहीं है। चाय भी सिर्फ एक भाई पीते हैं। छुआछूत बिल्कुल नहीं मानी जाती। फिर भी मैंने शराब, जुआ, वैश्यावृत्ति, तस्करी, ब्लैक, छुआछूत मानने वालों के हृदय परिवर्तन के प्रयास तक स्वयं को सीमित कर लिया, किंतु ऐसे व्यक्तियों को अपराधी मानना बंद कर दिया।

यहां तक कि भारत के अनेक चरित्रवान लोगों ने मेरे इस कदम का बहुत विरोध किया। कुछ लोगों ने तो मेरे विरुद्ध भी प्रचार शुरू किया, किंतु मैं ऐसे चरित्रवानों को नासमझ मानकर अपनी लीक पर चलता रहा। गांधीजी ने कहा था कि “पाप से घृणा करो, पापी से नहीं,” किंतु हम लोग गांधीजी की बात को भूलकर कार्य के स्थान पर कर्ता को ही अपराधी घोषित करने लगे। मैंने इन चरित्रवानों की विपरीत सोच से स्वयं को दूर कर लिया। परिणाम हुआ कि अपराधियों की शक्ति घटी, अलग पहचान बनी तथा वे

अल्पमत में आ गए।

मैं यह महसूस करता हूं कि हमारे देश के चरित्रवानों का चरित्र अपराध नियंत्रण में तभी सहायक हो सकता है जब वे अन्य सबको अपराधी मानने की अपनी सोच बदलें। उन्हें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि चोरी, डकैती, मिलावट, कम तौल, बलात्कार, जालसाजी, हिंसा, आतंक जैसे अपराधों के अतिरिक्त कानूनों का उल्लंघन करने वाला अपराधी नहीं है, बल्कि अपराधी तो वह सरकार है जिसने स्थानीय तथा सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करके सारी शक्ति अपने हाथ में केंद्रित कर ली और इनके विरुद्ध कानून बनाए।

ऐसी अपराधी सरकार के ऐसे अनावश्यक कानूनों के पालन को चरित्र के साथ जोड़ने वाले नासमझ चरित्रवानों को समझाने की आवश्यकता है, और यदि ये न समझें तो इन्हें ओझल करके हम सब लोगों को नए स्वरूप में संगठित होने की आवश्यकता है।

समीक्षा उत्तर

मैंने "अपराध और अपराध नियंत्रण " विषय पर एक विस्तृत और विवेचनात्मक लेख लिखा था। उक्त लेख के संबंध में अनेक प्रतिक्रियाएं प्राप्त हुईं। पाठकों ने लेख को बहुत पसंद किया। कई पाठकों ने कुछ प्रश्न किए या अधिक स्पष्टता की मांग की। मुख्य प्रश्न निम्नांकित रहे :-

(1) आपने लिखा है कि — ''मूल अधिकार का आशय भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों से नहीं है। संविधान में मूल अधिकारों के संबंध में अनेक विसंगतियां मौजूद हैं।'' वे विसंगतियां क्या हैं?

(2) आपने अपराधों की कुल संख्या पाँच बताई। इस सूची में भ्रष्टाचार शामिल नहीं है। आपकी समझ से भ्रष्टाचार अपराध है या गैरकानूनी? यदि यह गैरकानूनी है तो आप इस परिभाषा पर फिर से विचार करें।

(3) आपने लिखा कि अधिकांश अपराध स्वार्थ के कारण होते हैं। मजबूरी से होने वाले अपराधों की संख्या नाममात्र की होती है। किंतु आपने मजबूरी में किए जाने वाले अपराधों की सजा न हो, ऐसा प्रावधान नहीं सुझाया। क्या भूख से तड़प रहा व्यक्ति रोटी चुराकर खा ले तो उसे सजा देना उचित है?

(4) हम लोगों ने अपराध नियंत्रण के लिए हृदय परिवर्तन की बहुत प्रशंसा सुनी। किंतु आपने हृदय परिवर्तन की अपेक्षा दंड प्रक्रिया को अधिक महत्व दिया। क्या हृदय परिवर्तन की अपराध नियंत्रण में कोई भूमिका नहीं है?

(5) आपने मकान किराया कानून का भरपूर विरोध किया। इसे और स्पष्ट करें।

(6) आपने लिखा कि पुलिस और न्यायालय पर होने वाले व्यय को संपूर्ण बजट के एक प्रतिशत से बढ़ाकर बीस प्रतिशत कर दिया जाए। दो वर्ष बाद इसे घटाकर पाँच % जा सकता है। आप इतना बीस गुना व्यय बढ़ाने की बात कर रहे हैं, तो यह धन आएगा कहाँ से?

(7) आपने गुप्त मुकदमा प्रणाली की सिफारिश की है। क्या यह प्रणाली अलोकतांत्रिक नहीं है? क्या विश्व समुदाय ऐसी किसी प्रणाली का समर्थन करेगा?

(8) आपने लिखा — ''दंड का मानवीय होना भी एक नासमझी की बात है।'' आप अमानवीय तरीके से दंड के पक्षधर क्यों हैं?

(9) आपने लिखा कि न्यायालय में दोष सिद्धि के पूर्व किसी को निर्दोष मानना एक गलत सोच है। क्या आपकी नजर में पुलिस जिसे अपराधी कह दे, उसे ही अपराधी मान लेना चाहिए?

उत्तर — भारतीय संविधान में मूल अधिकार संबंधी अनेक विसंगतियां हैं। मुख्य विसंगति है परिभाषा की। भारतीय संविधान मूल अधिकार को संविधान प्रदत्त मानता है, किंतु मेरे विचार में संविधान मूल अधिकार न देता है न घोषित करता है, बल्कि वे तो प्राकृतिक अधिकार हैं। ये अधिकार संपूर्ण विश्व में एक समान हैं और यदि कोई संविधान इन अधिकारों में कटौती करता है तो वह संविधान दोषी माना जाएगा।

मूल अधिकार चार हैं —

(1) जीने का

(2) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

(3) संपत्ति

(4) स्वनिर्णय

भारतीय संविधान संपत्ति और स्वनिर्णय को मूल अधिकार नहीं मानता। इसके बदले में धार्मिक स्वतंत्रता आदि को शामिल किया गया है जो सब स्वनिर्णय में शामिल हैं। अब भारत में शिक्षा और रोजगार को मूल अधिकार में शामिल करने की मांग का एक फैशन सा चल पड़ा है। मेरी परिभाषा अनुसार दोनों अभी मूल अधिकार हैं। अब नई व्यवस्था द्वारा जो शामिल करने की बात है वह वास्तव में मूल अधिकारों का उल्लंघन होगा।

भ्रष्टाचार दो प्रकार का होता है —

(1) मालिक की सहमति या स्वीकृति से

(2) मालिक को धोखा देकर।

जो भ्रष्टाचार मालिक की सहमति से हो, वह अपराध नहीं है; किंतु जो भ्रष्टाचार मालिक को धोखा देकर किया जाए, वह धोखा का अपराध है। किसी का मालिक उस व्यक्ति को कहा जा सकता है जिसे उस काम करने वाले की नियुक्ति या निष्कासन का अधिकार हो। आम तौर पर भ्रष्टाचार को अपराध मानने की परंपरा है, किंतु सूक्ष्म विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भ्रष्टाचार अपराध नहीं है।

भूख से तड़प रहे व्यक्ति द्वारा चुराकर रोटी खाने को अपराध मानकर सजा दें या छोड़ने का कानून बने — यह

"... अपराध नियंत्रण में हृदय परिवर्तन की भूमिका की प्रशंसा मैंने भी बहुत सुनी है, किंतु न कहीं प्रत्यक्ष दिखा न प्रयोगों से सिद्ध हुआ। प्राचीन समय में भी दो ही ऐसी प्रमुख घटनाएं — एक अंगुलीमाल की और दूसरी बाल्मीकि की — सुनी जाती हैं, जिनका उपदेशों से हृदय परिवर्तन हुआ है। अन्य अपराधी गतिविधियों पर ताकत और भय से ही नियंत्रण किया जाता रहा है। ..."

निर्णय कठिन है। न्याय और व्यवस्था का समन्वय होना चाहिए। यदि मजबूरी में किए गए अपराध को सजा से मुक्त रखने का प्रावधान बना दें, तो लाभ कम और हानि अधिक होगी। यह तय करना ही कठिन हो जाएगा कि कौन सा कार्य मजबूरी है और कौन सा जानबूझकर। एक युवक मजबूरी में बलात्कार करे तो कैसे छूट संभव है? कानूनों में विशेष छूट न होते हुए भी न्यायाधीश इतना स्वयं देखते हैं। साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि यदि रोटी चुराना उसकी प्राणरक्षा के लिए मजबूरी थी, तो उसे यदि कुछ सजा हुई तो कोई अन्याय नहीं हो गया। मैं चाहता हूँ कि काल्पनिक या अपवाद स्वरूप घटनाओं को आधार बनाकर व्यवस्था को कमजोर करना उचित नहीं होगा। मेरा अपना अनुभव बताता है कि प्रवृत्ति जन्य अपराध करके उसे मजबूरी बताना फैशन बन चुका है। अतः व्यवस्था बनाते समय इससे बचना चाहिए।

अपराध नियंत्रण में हृदय परिवर्तन की भूमिका की प्रशंसा मैंने भी बहुत सुनी है, किंतु न कहीं प्रत्यक्ष दिखा न प्रयोगों से सिद्ध हुआ। प्राचीन समय में भी दो ही ऐसी प्रमुख घटनाएं - एक अंगुलीमाल की और दूसरी बाल्मीकि की सुनी जाती हैं, जिनका उपदेशों से हृदय परिवर्तन हुआ है। अन्य अपराधी गतिविधियों पर ताकत और भय से ही नियंत्रण किया जाता रहा है। अशोक का हृदय परिवर्तन खून देखकर हुआ था। तो क्या हमें अब इतनी हत्याओं और खून की प्रतीक्षा करनी होगी? हृदय परिवर्तन के प्रयास उच्च आदर्श हैं किंतु व्यावहारिक नहीं। हृदय परिवर्तन के प्रयास किए जाने चाहिए, किंतु व्यवस्था की कीमत पर नहीं।

"दंड से सुधार संभव नहीं" यह घिसा-पिटा मुहावरा मैं भी बहुत सुनता हूँ और मैंने रामानुजगंज में दोनों का प्रयोग भी बहुत किया, किंतु दंड व्यवस्था ही सफल हुई, हृदय परिवर्तन का प्रभाव शून्य रहा। एक पाठक ने लिखा है कि हृदय परिवर्तन का प्रभाव चमत्कारिक है, किंतु इसीलिए हम सफल नहीं हैं कि हमारा स्वयं का स्तर वैसा नहीं है। मेरा उक्त पाठक महोदय से निवेदन है कि जब स्तर वाले लोग ही नहीं हैं, तो हम अनावश्यक भ्रम फैलाकर व्यवस्था को कमजोर करने की भूल क्यों करें? जब स्तर वाले लोग होंगे, तब दंड और भय को रोककर हृदय परिवर्तन पर जोर देना शुरू कर देंगे।

मकान किराया कानून पूरी तरह अव्यावहारिक है। अच्छे-अच्छे ईमानदार लोगों की नीयत गड़बड़ा जाती है और वे कानून का सहारा लेकर मकान हड़पने का प्रयास करते हैं। इस कानून ने समाज में चरित्र पतन को बहुत बढ़ाया है। किरायेदारों के पक्ष में ऐसे कठोर कानून बनाना पूरी तरह गलत था और है। किंतु आज तक इस पर ध्यान नहीं दिया गया। कितने मारपीट और लूट तक के प्रकरण हो रहे हैं। पूरे भारत में पगड़ी प्रथा का प्रचलन इसी कानून के कारण

हुआ। अतः ऐसे अनावश्यक कानून तत्काल खत्म करना चाहिए।

अपराध नियंत्रण के लिए मैंने वर्तमान बजट को बीस गुना बढ़ाने का सुझाव रखा है। मेरे विचार से धन का अभाव नहीं है। अन्य विभागों की बजट राशि में से यदि एक-एक, दो-दो प्रतिशत बजट कम कर दें, तो कोई दिक्कत नहीं होगी। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि से कम कर सकते हैं। सबसे मुख्य बात तो यह तय करना है कि हमारी पहली प्राथमिकता न्याय और सुरक्षा है या शिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि।

आज स्थिति यह है कि शिक्षा, स्वास्थ्य में बजट वृद्धि के लिए निरंतर मांग भी उठती है और आंदोलन भी होते हैं, किंतु पुलिस और न्यायालय के लिए बजट की न कोई मांग उठती है, न आंदोलन। इसके विपरीत पुलिस के विरुद्ध आंदोलनों में बहुत रुचि से भाग लिया जाता है। पूरी तरह प्रमाणित हो चुका है कि यदि पाँच वर्ष के लिए सरकारी स्कूल बिल्कुल बंद भी कर दें तो शिक्षा में कोई कमी नहीं होगी, किंतु यदि एक माह के लिए पुलिस-न्यायालय बंद कर दें तो भारी संकट आ जाएगा। हमारे स्कूल, अस्पताल अभी वैकल्पिक संस्थान हैं क्योंकि उनका विकल्प उपलब्ध है, किंतु पुलिस-न्यायालय का विकल्प नहीं होने से ये अनिवार्य संस्थान हैं।

एक षड्यंत्र के अंतर्गत गरीबों के नाम पर योजनाएं बनवाकर भ्रष्टाचार के अवसर पैदा करने की आदत हमें बदलनी चाहिए।

मैंने गुप्त मुकदमा प्रणाली का सुझाव दिया। यह प्रणाली अलोकतांत्रिक कैसे हो गई? लोकतंत्र का अर्थ सुव्यवस्था है, अव्यवस्था या कुव्यवस्था नहीं। अपराधी अपराध करके निर्दोष न बच जाए और निर्दोष अपराधी मानकर सजा न पा जाए — ये दोनों ही बातें आवश्यक हैं। वर्तमान समय में अपराधी आम तौर पर निर्दोष प्रमाणित हो रहे हैं। यह लोकतंत्र कैसे हुआ? गुप्त मुकदमा प्रणाली से अधिकांश अपराधी सजा पा सकेंगे और निर्दोषों को कोई दिक्कत नहीं होगी, तब सच्चा लोकतंत्र आएगा। फिर यह प्रणाली तो सिर्फ अल्पकाल के लिए ही है और वह भी कुछ विशेष आपराधिक क्षेत्रों में। अतः लोकतंत्र में कोई कमी की बात बिल्कुल निराधार है।

विश्व समुदाय इस प्रणाली को अस्वीकार करने का प्रयत्न नहीं करेगा, क्योंकि बिना मुकदमा चलाए ही किसी को लंबे समय तक जेल में रखने के कई प्रावधान भारत में वर्तमान हैं। यदि ऐसे प्रावधान का विश्व विरोध नहीं है, तो न्यायालयों को विशेष अधिकार देने की व्यवस्था का विरोध क्यों होगा?

दंड और मानवीयता — ये दोनों विरोधाभासी शब्द हैं। दंड अपराधी के अपराध प्रमाणित होने के बाद उसके मूल अधिकारों पर आक्रमण की एक निर्धारित प्रक्रिया है, जो हर हालत में अमानवीय तो होगी ही। किंतु दंड और अमानवीयता के बीच संतुलन होना आवश्यक है। वर्तमान समय में वह संतुलन बिल्कुल ही असंतुलित हो गया है।

सबसे पहले तो यह बात विचारणीय है कि दंड का उद्देश्य अपराधी को दंडित करना मात्र है अथवा समाज में कोई भय उत्पन्न करने वाला संदेश देना भी उसका उद्देश्य है। यदि किसी अपराधी को दंड इस तरह दिया जाए कि आम लोगों को पता ही न चले कि क्या और क्यों दंड दिया गया, तो दंड प्रभावहीन हो जाएगा। वास्तव में तो दंड अपराधी पर कम और समाज पर अधिक प्रभाव डालने वाला होना चाहिए।

जब से दंड और मानवता को जोड़ने की कवायद शुरू हुई है, तब से दंड का भय भी कम हो गया है। अतः दंड को उस सीमा तक अमानवीय होना चाहिए जिस सीमा तक समाज के तत्कालीन वातावरण में आवश्यक हो। आज जेल का भय न के बराबर है। जेलों में क्षमता से कई गुना लोग बंद होने के बाद भी अधिकांश आबादी ऐसे कार्यों में संलग्न है कि उनका उपयुक्त स्थान जेल ही है। इस वातावरण के कुछ कारणों में से एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि दंड को मानवीय बनाने के प्रयत्न लगातार हो रहे हैं।

मैंने यह लिखा है कि न्यायालय से अपराध सिद्ध होने के पूर्व किसी को निरपराध मानकर उसकी सहायता करना गलत परंपरा है। व्यक्ति दो प्रकार के नहीं, तीन प्रकार के होते हैं —

(1) निरपराध
(2) संदेहास्पद
(3) अपराधी।

जिस व्यक्ति के विरुद्ध पुलिस ने अपराधी होना मान लिया है, किंतु न्यायालय में अपराध सिद्ध घोषित नहीं हुआ है, उसे निरपराध न मानकर संदेहास्पद की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। हमारा व्यवहार भी निरपराध, संदेही और अपराधी — इन तीनों के साथ बिल्कुल भिन्न-भिन्न होना चाहिए।

संदेहास्पद लोगों को हमें तब तक निरपराध नहीं मानना चाहिए जब तक अपनी व्यक्तिगत जानकारी में उक्त व्यक्ति का निरपराध होना सिद्ध नहीं है। इसी आधार पर मैंने शंकराचार्य प्रकरण में संत समाज या संघ परिवार द्वारा किए जा रहे किसी प्रकार के आंदोलन के विरुद्ध विचार व्यक्त किया था तथा इसी कसौटी पर मैंने इशरत जहां की हत्या के विरुद्ध वामपंथियों तथा मानवाधिकारियों के विरोध के विरुद्ध भी विचार व्यक्त किया था। मैं संतुष्ट हूँ कि दोनों ही मामलों में मेरी सोच ठीक सिद्ध हुई है।

नयी समाज व्यवस्था

असंतुलित विकास का वास्तविक कारण और समाधान

संघ प्रमुख मोहन भागवत जी जो कुछ भी बोलते हैं, वह बहुत सोच-समझकर और संतुलित ढंग से बोलते हैं। हाल ही में दशहरे के अवसर पर उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात कही कि भारत में आर्थिक आधार पर बहुत तेजी से विकास तो हो रहा है, लेकिन यह विकास असंतुलित है। अमीरों की संपत्ति बहुत तेजी से बढ़ रही है और गरीब-अमीर के बीच की खाई और चौड़ी होती जा रही है, जबकि यह कम होनी चाहिए थी। इस विषय पर हमारी सरकार को गंभीरता से विचार करना चाहिए।

मेरा मानना है कि जो कुछ भी हो रहा है, वह परिणाम है - भागवत जी ने परिणाम बताया, लेकिन कारण नहीं बताया और न ही समाधान। क्योंकि उन्हें न तो कारण का ज्ञान है और न ही समाधान का। सच्चाई यह है कि पूरी दुनिया में गरीब और अमीर के बीच का अंतर बढ़ रहा है, और भारत में यह अंतर अन्य देशों की तुलना में कहीं अधिक तेजी से बढ़ रहा है।

यदि आप मेरा लिखा हुआ लगभग सत्तर वर्ष पुराना साहित्य पढ़ेंगे, तो उसमें इस परिस्थिति की भविष्यवाणी पहले ही की गई थी। उसमें कारण भी बताया गया था और समाधान भी। मैंने लिखा था कि श्रम शोषण के उद्देश्य से ही बुद्धिजीवी कृत्रिम ऊर्जा का मूल्य घटाकर रखते हैं। आज दुनिया में बुद्धिजीवियों का वर्चस्व है, और भारत में भी यही स्थिति है।

जब तक कृत्रिम ऊर्जा का मूल्य नहीं बढ़ेगा, तब तक गरीब और अमीर के बीच का अंतर बढ़ता ही रहेगा। कारण यह है कि बुद्धिजीवी और अमीर वर्ग मिलकर कृत्रिम ऊर्जा का अधिक उपयोग करके श्रमिक वर्ग का शोषण करते हैं।

इसका समाधान यह है कि भारत में कृत्रिम ऊर्जा का मूल्य ढाई गुना बढ़ा दिया जाए और उससे प्राप्त अतिरिक्त राशि को अलग रखा जाए। यह राशि या तो प्रत्येक नागरिक में समान रूप से बाँट दी जाए, अथवा जनसहमति से कुछ करों (टैक्स) में कमी करके या अन्य सामाजिक कार्यों में प्रयोग की जा सकती है - लेकिन यह धन सरकार के खजाने में नहीं जाना चाहिए।

परिस्थिति अनुसार यह कार्य पाँच वर्षों में किया जा सकता है - प्रतिवर्ष 20% की वृद्धि के साथ। इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है जिससे गरीब-अमीर की खाई को कम किया जा सके, पर्यावरण प्रदूषण घटाया जा सके या इसी प्रकार की अन्य जटिल समस्याओं का समाधान किया जा सके।

जब तक कृत्रिम ऊर्जा के मूल्य में वृद्धि नहीं होगी, तब तक समाज को इन सभी दुष्परिणामों को झेलना पड़ेगा और इन्हीं में से एक दुष्परिणाम का उल्लेख भागवत जी ने अपने वक्तव्य में किया है।

हिंदुत्व — विचारधारा, उद्देश्य और सीमाएँ

7 अक्टूबर के प्रातःकालीन सत्र में कहा गया कि नई समाज व्यवस्था में हिंदुत्व को महत्वपूर्ण माना जाएगा, हिंदू धर्म को नहीं। हिंदुत्व जीवन पद्धति है, यह एक विचारधारा है; हिंदुत्व कोई पूजा पद्धति नहीं है। हम सनातनों को उसी हद तक स्वीकार करेंगे जहाँ वे हिंदुत्व की दिशा में चलते हों। पूजा पद्धति के आधार पर हिंदू धर्म का विस्तार करना हमारा लक्ष्य नहीं है — वह हिंदू धर्म और सनातन का कार्य है कि वे अन्य धर्मों से प्रतिस्पर्धा करें।

हिंदुत्व का विस्तार हम सामाजिक कार्य के रूप में मानते हैं और उसकी स्पष्ट सीमा है: वैचारिक संतुलन। हम किसी भी प्रकार के उग्र हिंदुत्व को स्वीकार नहीं करते; उग्रता को स्वीकार करना राज्य का काम नहीं हो सकता और न हमारा उद्देश्य होगा। यदि कोई भारत में मुसलमानों को दूसरे दर्जे का नागरिक बनाने की सोच रखता है, तो हम उसे सफल नहीं होने देंगे, क्योंकि हमारा उद्देश्य वैचारिक संतुलन पर आधारित हिंदुत्व है — मुसलमानों का विरोध नहीं।

हम चाहते हैं कि दुनिया हिंदू धर्म और हिंदुत्व के बीच का फर्क स्पष्ट रूप से समझे। हिंदू धर्म का वास्तविक अर्थ मूलतः हिंदुत्व ही है, पर वर्तमान समय में हिंदू धर्म आंशिक रूप से संगठन के स्वरूप को ग्रहण कर रहा है, इसलिए हमें हिंदू धर्म को अलग से परिभाषित करना पड़ रहा है। हम हिंदू धर्म के वास्तविक स्वरूप को देखना चाहते हैं और तब तक दुनिया में हिंदुत्व का सामाजिक विस्तार करना चाहते हैं।

वैचारिक संतुलनवादी हिंदुत्व — सिद्धांत, चुनौतियाँ और लक्ष्य

वर्तमान परिस्थितियों में वैचारिक संतुलनवादी हिंदुत्व ही समस्याओं का सबसे अच्छा समाधान है। इस हिंदुत्व में सत्य, अहिंसा, वर्ग समन्वय, व्यक्ति स्वातंत्र्य, सहजीवन अधिकार, अकेंद्रीकरण, न्यूनतम शासन, कर्त्तव्य प्रधानता, श्रम का सम्मान, नैतिकता और संस्थागत चरित्र जैसे गुण माने जाते हैं। इस विचार में योग्यता के अनुसार वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था को भी महत्त्व दिया जाता है।

सामाजिक जीवन में हिंदुत्व के व्यापक प्रसार के लिए माँ संस्थान, संघ परिवार, गायत्री परिवार जैसे संस्थान तथा नरेंद्र मोदी और मोहन भागवत का अधिकाधिक समर्थन है। हम जानते हैं कि हिंदुत्व के विरोध में कुछ लोग चालाकी, हिंसा, वर्ग निर्माण, वर्गीय विद्वेष, अल्पसंख्यक-प्रोत्साहन, अधिकतम शासन-कूटनीति और अधिकारप्रधान संगठन शक्ति का सहारा ले रहे हैं। इनमें कई साम्यवादी शामिल हैं और कई अन्य संस्थाएँ भी सक्रिय हैं। हम सब मिलकर उनकी चुनौती स्वीकार करेंगे और इन शक्तियों को परास्त करेंगे।

हिंदुत्व न केवल भारत में बल्कि पूरी दुनिया में प्रसारित होगा। अल्पकाल के लिए सावरकरवादी भी कहीं-कहीं विरोध कर सकते हैं, पर उनका प्रभाव सीमित और अस्थायी है। साथ ही, हमें यह भी संज्ञान में रखना होगा कि जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय कुछ हिंदुत्व-विरोधी षड्यंत्रों का केंद्र माना जाता है; इसलिए उसके ढाँचे पर पुनर्विचार आवश्यक समझा जाएगा। भारत से आरम्भ यह हिंदुत्व अब वैचारिक स्तर पर और अन्य माध्यमों से भी अपने विरोधियों के साथ संघर्ष के लिए तैयार है।

नई समाज व्यवस्था में सत्य की पुनर्स्थापना

वर्तमान दुनिया में सत्य की लगातार दुर्गति होती जा रही है, और भारत भी इससे अछूता नहीं है। सत्य बोलने वालों की संख्या घटती जा रही है, और समाज में सत्य का महत्व लगभग समाप्त होता दिख रहा है। ऐसी विकट परिस्थितियों में सत्य को स्थापित करना अत्यंत कठिन कार्य बन गया है।

प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था का सही स्वरूप होने के कारण सत्य समाज के सामने संतुलित रूप से प्रस्तुत होता था। परंतु वर्तमान समय में वर्ण व्यवस्था का अर्थ विकृत हो जाने से वह स्थिति नहीं रही। इसलिए अब हमारे सामने यह चुनौती है कि एक ओर हम समाज में सत्य के महत्व को समझाएँ, और दूसरी ओर सत्य को मजबूत करने के लिए ठोस कदम उठाएँ। इसके साथ-साथ आदर्श वर्ण व्यवस्था को पुनः लागू करने का प्रयास भी आवश्यक है।
जो लोग वर्ण व्यवस्था के विरोध में हैं, वे मूल रूप से गलत दिशा में हैं। वर्ण व्यवस्था को समाप्त करने की नहीं, बल्कि उसमें आई कमियों को सुधारने की आवश्यकता है। साथ ही, सत्य के महत्व को पुनर्स्थापित करने के लिए कुछ व्यावहारिक कदम भी उठाए जा सकते हैं।

उदाहरण के लिए, यदि कोई अपराधी न्यायालय में जाकर अपना अपराध स्वीकार करता है और सत्य बताता है, तो उसे उस अपराध में सज़ा में बड़ी माफी दी जानी चाहिए। मैंने सुना है कि अमेरिका में इस तरह का कानून है, पर भारत में नहीं है। यदि ऐसा प्रावधान बनाया जाए तो न्यायालयों में मुकदमे कम होंगे और समाज में सत्य की प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी।

दूसरा कदम यह होना चाहिए कि सामाजिक जीवन में जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसे अधिकतम सम्मान दिया जाए। समाज में सत्य बोलने वालों को प्रोत्साहित करने की संस्कृति विकसित की जाए।

आज की राजनीति में भी सत्य का अभाव स्पष्ट दिखता है, पर इसके बावजूद कुछ नेता जैसे नरेंद्र मोदी और नीतीश कुमार अब भी अधिकतम सत्य बोलने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे नेताओं को समाज में अधिक सम्मान मिलना चाहिए।

सत्य को पुनः स्थापित करना केवल नैतिक जिम्मेदारी नहीं, बल्कि एक नई समाज व्यवस्था की बुनियादी आवश्यकता है।

भ्रष्टाचार, कानून और नई समाज व्यवस्था

10 अक्टूबर, प्रातःकालीन सत्र — नई समाज व्यवस्था में हम भ्रष्टाचार पर कुछ अलग नीति अपना रहे हैं। किसी भी प्रकार का भ्रष्टाचार को हम अपराध नहीं मानते; उसे केवल गैरकानूनी कृत्य के रूप में देखा जाएगा। वर्तमान भारत की परिस्थितियाँ इस विचार को और भी गंभीर बना देती हैं।

आम तौर पर हम अपने मित्रों को सलाह देते हैं कि किसी भी हाल में कानून तोड़ना ठीक नहीं है। साथ ही, आज भारत में जो हजारों अनावश्यक कानून बने हुए हैं, उन्हें हमेशा के लिए पालन करना संभव नहीं है; इसलिए ऐसे अनावश्यक कानूनों से बचने की जरूरत है, न कि उन्हें तोड़ने की। इसके दो रास्ते हो सकते हैं: एक, भ्रष्टाचार के द्वारा ऐसे कानूनों के अनुपालन से बचना; दूसरा, सही सरकार को इस विषय पर तैयार करना ताकि धीरे-धीरे अनावश्यक कानून हटाए जा सकें।

कानून मात्र से समाज की व्यवस्था कायम नहीं रहती; कानूनों से अपराधों को रोका जा सकता है। भ्रष्टाचार रोकना सरकार की अपनी जिम्मेदारी है, न कि सिर्फ़ एक सामाजिक कार्य। अक्सर सरकारी संस्थागत प्रक्रियाएँ ही भ्रष्टाचार के अवसर खोलती हैं। यदि सरकार सचमुच भ्रष्टाचार रोकना चाहे, तो अधिकतम निजीकरण जैसे विकल्प अपनाकर अवरोध और अवसर दोनों घटा सकती

है। पर सरकार में अक्सर भ्रष्टाचार को जिंदा रखा जाता है ताकि वह भ्रष्टाचार-रोधी दिखावा करती रहे।
मैं आपसे एक बार फिर कहूंगा कि किसी भी परिस्थिति में सरकार के कानून तोड़ना उचित नहीं है। अनावश्यक कानूनों से बचने और व्यवस्था में सुधार लाने का सही मार्ग है—सरकार को विवेकपूर्ण रूप से अनावश्यक कानून हटाने के लिए तैयार करना।

आत्महत्या –सामाजिक विषय, अपराध नहीं

जब कोई व्यक्ति अपना लक्ष्य घोषित करता है, बार-बार उसकी घोषणा करता है, और फिर उसे प्राप्त नहीं कर पाता, तो वह निराशा में डूब जाता है। ऐसी स्थिति में कई बार व्यक्ति आत्महत्या जैसा कदम उठाता है। आत्महत्या सामान्यतः क्रोध या आवेश में होती है, लेकिन हाल के दिनों में इसके पीछे एक नया कारण सामने आया है — बदला लेने की प्रवृत्ति।
हरियाणा में हाल ही की दो आत्महत्याएँ इसी कारण हुईं; न तो वे निराशा में की गई थीं, न ही किसी मानसिक असंतुलन में — बल्कि प्रतिशोध की भावना से। यह प्रवृत्ति अत्यंत चिंताजनक है।
भारत में आत्महत्याओं की बढ़ती संख्या का एक बड़ा कारण यह भी है कि सरकार और मीडिया आत्महत्याओं को अत्यधिक प्रचारित और चर्चित बना देते हैं। इस तरह की अनावश्यक प्रसिद्धि लोगों में गलत मानसिक प्रभाव पैदा करती है।
आत्महत्या किसी भी दृष्टि से अपराध नहीं मानी जा सकती। यह न तो किसी से बदला लेने का माध्यम बन सकती है, न ही सामाजिक प्रदर्शन का साधन। आत्महत्या अपने आप में गलत है, पर हमारी शासन व्यवस्था इसे जिस प्रकार से "घटना" बनाकर उभारती है, वह और भी हानिकारक है।
नई सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में हम आत्महत्या को कानूनी नहीं, बल्कि सामाजिक विषय मानेंगे। मेरे विचार से आत्महत्या को अपराध घोषित करने वाले सभी कानूनों को समाप्त कर देना चाहिए।
हर व्यक्ति को अपने जीवन और मृत्यु पर अधिकार है। वह कब तक जीना चाहता है या कब नहीं — यह निर्णय व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विषय होना चाहिए, न कि सरकारी नियंत्रण का।
इसलिए हमारी नई व्यवस्था में आत्महत्या को अपराध नहीं, बल्कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का सामाजिक विषय माना जाएगा।

राजनैतिक चर्चा

गांधी, नेहरू और सावरकर — विचारधाराओं का टकराव और भविष्य की दिशा

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में दो विपरीत विचारधाराएँ समानांतर रूप से सक्रिय थीं — एक गांधी की विचारधारा और दूसरी नेहरू की विचारधारा।
गांधी विचारधारा आर्य संस्कारों से प्रभावित थी, जिसे आज वैदिक, सनातन, हिंदू या भारतीय संस्कृति कहा जाता है।
दूसरी ओर, नेहरू विचारधारा में आर्य संस्कारों का त्याग कर पाश्चात्य, इस्लामी और साम्यवादी तत्वों का मिला-जुला रूप देखने को मिलता है, जिसमें समाजवादी विचार का प्रभाव सर्वाधिक था।
कुछ लोग सावरकर को एक स्वतंत्र विचारधारा मानते हैं, लेकिन वस्तुतः सावरकर का प्रभाव सीमित था — उनका ध्यान मुख्यतः मुस्लिम विरोध तक सीमित रहा।
आम जनता में प्रभाव गांधी और नेहरू विचारधारा का ही रहा।
भारत विभाजन के बाद जहाँ मुस्लिम विचारधारा प्रभावहीन हुई, वहीं गांधी हत्या के बाद संघ विचार भी संदेह के घेरे में आ गया।
फिर भी संघ परिवार ने "हिंदू" शब्द पर अपनी वैचारिक पकड़ बनाए रखी, जबकि साम्यवादियों ने "समाज" शब्द पर।
समय के साथ संघ परिवार हिंदुत्व की दिशा में सोचता रहा, जबकि साम्यवाद "समाज" शब्द को केवल अपने राजनीतिक व्यापार का हिस्सा बनाकर रखता गया।
गांधी विचारधारा का मुख्य तत्व था सामाजिक राजनीति, जबकि नेहरू विचारधारा का मुख्य तत्व था राजनीतिक समाज।
गांधी लोकतांत्रिक संसद को समाज का प्रबंधक मानते थे, जबकि नेहरू संसदीय लोकतंत्र को सत्ता का संरक्षक मानते थे।
गांधी विचारधारा में सत्य, अहिंसा, वर्ग-समन्वय, हिंदुत्व, व्यक्ति-स्वतंत्रता, सहजीवन अधिकार, विकेंद्रीकरण, कर्तव्य प्रधानता, श्रम सम्मान, नैतिकता, संस्थागत चरित्र और सत्ता का अकेंद्रीकरण जैसे तत्व शामिल थे।
इसके विपरीत, नेहरू विचारधारा में चालाकी, बल प्रयोग, वर्ग निर्माण, वर्ग विद्वेष, अल्पसंख्यक प्रोत्साहन, शासन-कूटनीति, अधिकार प्रधानता, संगठन शक्ति और बुद्धिजीवी वर्चस्व जैसे गुण प्रमुख थे।
विचारों के धरातल पर बिल्कुल विपरीत होते हुए भी, स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान ये दोनों धाराएँ एक साथ रहीं।

स्वतंत्रता का आभास मिलते ही इनके बीच टकराव शुरू हो गया।

नेहरू, सावरकर, अंबेडकर, जिन्ना आदि सभी नेताओं ने उस समय गांधी विचारधारा का विरोध किया और माउंटबेटन को अपने विचारों का केंद्र बना लिया।

गांधी हत्या में प्रत्यक्ष भूमिका चाहे जिसकी भी रही हो, पर अप्रत्यक्ष भूमिका इस माउंटबेटन-केन्द्रित विचार-मंच की भी थी।

गांधी की हत्या के बाद नेहरू संस्कृति ने पूरे भारत का प्रतिनिधित्व कर लिया।

गांधी विचार को आगे बढ़ाने के लिए बनी संस्था "सर्वोदय" भी धीरे-धीरे नेहरू विचारधारा से प्रभावित हो गई, क्योंकि उसमें स्वतंत्र चिंतन करने वालों की कमी थी।

सर्वोदय परिवार के अनेक सदस्य संघ विचार को ही हिंदू संस्कृति मानने लगे, और गांधी के अभाव में यह समूह पूरी तरह नेहरू की दिशा में झुक गया।

ऐसी परिस्थिति में भारत स्वतंत्र तो हुआ, लेकिन गांधी विचारधारा प्रभावहीन हो गई।

इस प्रभावहीनता में नेहरू विचारधारा का मुख्य योगदान रहा, जबकि सावरकरवाद ने परोक्ष रूप से उसका साथ दिया — ठीक वैसे जैसे रामलीला में राम और रावण मंच पर लड़ते हैं, पर मंच के पीछे एक ही धन साझा करते हैं।

अब समय आ गया है कि हम नेहरूवादियों और सावरकरवादियों की इस मिली-जुली "रामलीला" का पर्दाफाश करें।

समाज के सामने यह स्पष्ट करना होगा कि भारत का भविष्य नेहरू या सावरकर की दिशा में नहीं, बल्कि हिंदुत्व की वैचारिक दिशा में है — उसी मार्ग पर आज नरेंद्र मोदी और मोहन भागवत आगे बढ़ रहे हैं।

हमारा उद्देश्य इस चर्चा को आगे बढ़ाकर जेएनयू जैसी वैचारिक संस्थाओं तक पहुँचाना है, ताकि नई पीढ़ी भारत के असली बौद्धिक संघर्ष और उसके समाधान को समझ सके।

2. सुप्रीम कोर्ट पर हमला और उससे उपजे लाभ

हाल ही में सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश पर हुए असफल हमले ने कई दिशाओं में असर डाला। इस घटना से सबसे पहले तो मुख्य हमलावर अधिवक्ता को ही लाभ हुआ। वह पहले एक साधारण और उपेक्षित व्यक्ति था, पर इस घटना ने उसे अचानक चर्चा के केंद्र में ला दिया। उसके लिए यह एक प्रकार की प्रसिद्धि प्राप्त करने की चाल बन गई, जिससे उसे सामाजिक और आर्थिक दोनों लाभ मिले।

मीडिया को भी इस घटना से भारी फायदा हुआ। लगातार प्रसारण और बहसों ने उसकी दर्शक संख्या बढ़ा दी। इसी तरह साम्यवादियों को भी इसमें अवसर दिखा—वे फिर से संघ विरोध के पुराने सुर दोहराने लगे, भले ही संघ का इस घटना से कोई लेना-देना न रहा हो। दूसरी ओर, सावरकरवादी गुट भी सक्रिय हो गए, उन्होंने इसे हिंसक प्रवृत्तियों के समर्थन में एक नया औचित्य बनाने की कोशिश की। मुख्य न्यायाधीश को भी इस घटना से प्रतिष्ठा मिली। उन्होंने जिस शांत और संयमित ढंग से प्रतिक्रिया दी, वह उल्लेखनीय रही। उन्होंने अपराधी को क्षमा कर एक उच्च नैतिक उदाहरण प्रस्तुत किया और यह दिखाया कि न्याय केवल कानून का नहीं, बल्कि मानवीय संवेदना का भी विषय है।

लेकिन इन तमाम लाभों के बीच सबसे अधिक हानि हमें हुई है—क्योंकि जिन प्रवृत्तियों के खिलाफ हम संघर्ष कर रहे थे, वही प्रवृत्तियां इस घटना से फिर मजबूत हुई हैं। इसीलिए ऐसी घटनाओं की निंदा उसी समय होनी चाहिए जब 'सनातन' के नाम पर सावरकरवादी या कोई भी उग्रवादी तत्व समाज में अपनी जड़ें मजबूत करने लगें। इतिहास गवाह है कि जो राष्ट्र उग्रवादियों के सामने झुक जाते हैं, उन्हें भविष्य में भारी नुकसान उठाना पड़ता है—जैसा पाकिस्तान, बांग्लादेश और हम स्वयं गांधी हत्या के बाद झेल चुके हैं।

अब भी समय है कि हम सतर्क हों और खुलकर उन सभी की आलोचना करें जिन्होंने न्यायपालिका के निर्णयों पर अनावश्यक आक्षेप लगाए। न्याय और विवेक का सम्मान ही समाज को सही दिशा दे सकता है।

3. इज़राइल और हमास — उग्रवाद की पराजय

गाजा में महीनों तक चले संघर्ष के बाद अंततः हमास को युद्धविराम स्वीकार करना पड़ा। दो वर्ष पहले शुरू हुए इस युद्ध में लगभग 70,000 लोग मारे गए। इज़राइल ने केवल हमास को ही नहीं, बल्कि लेबनान, सीरिया और ईरान जैसे देशों में फैले आतंकवादी ठिकानों पर भी कार्रवाई की। परिणाम यह हुआ कि आज इस्लामी आतंकवाद की कमर टूट चुकी है।

दुनिया में उग्रवाद और आतंकवाद का इतिहास लंबा रहा है। यह देखा गया है कि जहां कुछ समाज हिंसा के माध्यम से प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं, वहीं कुछ समाज शांति और संयम के माध्यम से अस्तित्व बनाए रखते हैं। यही मूल अंतर है उग्रता और शांति के मार्ग में। हिंदू समाज का स्वभाव सदा से शांतिपूर्ण रहा है। समय-समय पर कुछ लोग उसमें उग्रता ला देते हैं, लेकिन उसका मूल स्वभाव आज भी सहिष्णुता और विवेक का है। इसके विपरीत, इस्लामी उग्रवाद ने कई बार हिंसा को धार्मिक या राजनीतिक साधन के रूप में अपनाया है, जिसका परिणाम आज पूरी दुनिया देख रही है।

इज़राइल ने अपने दृढ़ संकल्प से यह दिखा दिया है कि आतंकवाद चाहे किसी भी रूप में हो, यदि कोई राष्ट्र ठान ले तो उसे समाप्त किया जा सकता है। भारत के लिए भी यही सीख है — हमें किसी भी प्रकार के उग्रवाद से दूर रहकर अपने शांतिप्रिय और नैतिक मूल्यों पर डटे रहना चाहिए।

हमारा मार्ग वही होना चाहिए जो सत्य, संयम और न्याय पर आधारित हो। तेज़ सफलता के लिए हिंसा या आतंक का मार्ग अपनाना हमारे स्वभाव और संस्कृति दोनों के विपरीत है।

4. शांति संधि और मुस्लिम समाज की प्रतिक्रिया

हमारा मार्ग वही होना चाहिए जो सत्य, संयम और न्याय पर आधारित हो। तेज़ सफलता के लिए हिंसा या आतंक का मार्ग अपनाना हमारे स्वभाव और संस्कृति दोनों के विपरीत है। इज़राइल और हमास के बीच हुए युद्धविराम समझौते पर पूरी दुनिया में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं देखने को मिली हैं। मुस्लिम देशों की सरकारों ने इसे राहत के रूप में स्वीकार किया है, लेकिन आम मुसलमान वर्ग में असंतोष भी दिखा है।

पाकिस्तान इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है — वहाँ की सरकार ने युद्धविराम का स्वागत किया, जबकि जनता के एक बड़े हिस्से ने सड़कों पर उतरकर विरोध किया। यह विरोध इस बात का संकेत है कि अब भी कई लोग संघर्ष को ही गौरव का प्रतीक मानते हैं, जबकि स्थायी समाधान केवल शांति में है।

गाजा की जनता, जिसने सबसे अधिक पीड़ा झेली, वह इस समझौते से प्रसन्न है। लेकिन दुनिया के अन्य हिस्सों में बैठे मुसलमानों के लिए यह पराजय का संकेत प्रतीत हो रहा है। यह मानसिकता ही उग्रवाद की जड़ है — जब हार को भी सीख या आत्ममंथन का अवसर न माना जाए, तो समाज केवल संघर्ष की ओर बढ़ता है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि मुस्लिम समाज आत्मावलोकन करे और यह समझे कि आस्था का अर्थ आक्रोश नहीं होता। शांति, सह-अस्तित्व और संवाद ही किसी भी सभ्य समाज की पहचान हैं।

आईपीएस और एएसआई आत्महत्याएँ: प्रशासनिक दबाव और जिम्मेदारी के सवाल

मैंने पहले भी संकेत किया था कि हरियाणा में आईपीएस पूरण कुमार की आत्महत्या का संबंध कहीं ना कहीं भ्रष्टाचार या दबाव से जुड़ा हो सकता है।

पूरण कुमार की पत्नी हरियाणा में वरिष्ठ आईएएस अधिकारी हैं, उनके साले हरियाणा में विधायक हैं, और अन्य कई रिश्तेदार भी उच्च पदों पर हैं। इसी कारण पूरण कुमार को मनमानी करने का अवसर मिलता था।

आज जिस प्रकार संदीप कुमार एएसआई ने आत्महत्या की और जिन आरोपों को उन्होंने उजागर किया, वे अत्यंत सनसनीखेज हैं। इन आरोपों से संबंधित परिवार और करीबी लोग भी प्रभावित हो सकते हैं। आईपीएस बनाम एएसआई की आत्महत्याएँ प्रशासनिक दबाव, भ्रष्टाचार और प्रणालीगत कमज़ोरियों पर नए सवाल उठाती हैं।

इन घटनाओं से यह स्पष्ट होता है कि उच्च पदों पर होने के बावजूद व्यक्तियों को भी दबाव और नैतिक संकट का सामना करना पड़ सकता है। प्रशासन और समाज के लिए यह संदेश है कि पारदर्शिता, जवाबदेही और संवेदनशील नेतृत्व की आवश्यकता है।

दबाव-राजनीति, पहचान-संगठन और सरकार की दुविधा

मैं जानता हूँ कि केंद्र सरकार पर कई संगठन दबाव डाल रहे हैं। सरकार इसे समझती भी है, पर दबाव में आना उसकी वर्तमान राजनीतिक मजबूरी भी है — उसके पास संविधान संशोधन के लिए आवश्यक बहुमत नहीं है और वह एक साथ सबको नाराज़ भी नहीं कर सकती।

मुख्य समस्या यह है कि विपक्ष ने अक्सर देशभक्ति की बात छोड़कर सत्ता के लिए पहचान-राजनीति का सहारा लेना शुरू कर दिया है। कुछ राजनैतिक दल भ्रष्टाचार के आरोपी और संवेदनशील सामाजिक मुद्दों को एकत्र कर राजनीति बना रही हैं। जाति, धर्म, लिंग या आदिवासी-दलित पहचान के नाम पर समाज में दरार डालकर सत्ता हासिल करने की रणनीति देखने को मिलती है। ऐसे में विपक्ष और कुछ संगठनों के साथ गठजोड़ सरकार के सामने एक बड़ी चुनौति बन जाते हैं।

इस पार्श्वभूमि में सरकार कई बार समझौता करने पर मजबूर दिखती है — नीतिगत छोटा-बड़ा रियायत या टालमटोल इसलिए होती है कि प्रशासन चलना चाहिए और सामाजिक असंतुलन न बढ़े। इसी वजह से कभी-कभी सीमा-संबंधी मामले, पर्यावरण नीतियाँ या सामाजिक-आर्थिक योजनाएँ नज़रअंदाज़ जैसी लग सकती हैं। वहीं, कुछ हितधारक पहचान-बाजी के नाम पर दुकानदारी कर रहे हैं और यह चिंता पैदा करती है कि

संवेदनशील मुद्दों का दुरुपयोग हो रहा है।

हम यह समझते हैं कि सरकार की कुछ सीमाएँ हैं, पर इसका मतलब यह नहीं कि हम मौन रहेंगे। जनता के बीच यह मुद्दा उठाना ज़रूरी है कि दलित, आदिवासी, महिलाएँ, गरीब और पर्यावरण—इन संवेदनशील विषयों के नाम पर अगर कोई अनैतिक लाभ उठा रहा है तो उसे बेनकाब किया जाए। हम लोकतांत्रिक तरीकों से यह मांग करेंगे कि-पारदर्शिता और जवाबदेही बनी रहे, और पहचान-आधारित भावनाओं का दुरुपयोग रोका जाए। हम मजबूर नहीं हैं — सवाल पूछना और नियामक जवाबदेही माँगना लोकतंत्र का अधिकार है।

न्यायपालिका की बढ़ती मनमानी और जनता का आक्रोश

वर्तमान भारत में न्यायपालिका के प्रति आम लोगों में आक्रोश बढ़ रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि न्यायपालिका से संतुलन और निष्पक्षता की उम्मीद की जाती थी, लेकिन उसने अपने कुछ व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण “न्यायिक सर्वोच्चता” का नारा दे दिया। परिणामस्वरूप, जनता के मन में न्यायपालिका के प्रति असंतोष और अविश्वास दोनों बढ़ने लगे हैं।

गंभीरता से सोचिए — यदि पर्यावरण से जुड़ी हर छोटी-छोटी बात पर न्यायपालिका आदेश देने लगेगी, तो स्वाभाविक है कि लोगों की अपेक्षाएं भी उससे बढ़ेंगी। दिल्ली में पटाखे चलेंगे या नहीं, इसका निर्णय न्यायालय को क्यों करना चाहिए? यह निर्णय कार्यपालिका और विधायिका का विषय होना चाहिए। लेकिन न्यायपालिका ने इसमें हस्तक्षेप किया और अब अपने ही पुराने निर्णयों को बदलने की नौबत आ गई है।

एक समय था जब न्यायपालिका के निर्णय सदियों तक उदाहरण माने जाते थे। आज वही निर्णय गाजर-मूली की तरह बदल रहे हैं। लोकतंत्र के तीनों स्तंभों—विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका—में यदि कोई एक दादागिरी करने लगे, तो जनता के मन में असंतोष बढ़ना स्वाभाविक है।

न्यायपालिका को यह समझना चाहिए कि वर्तमान समय में जो आक्रोश दिख रहा है, वह किसी एक न्यायाधीश के प्रति व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि पूरे न्यायिक तंत्र के प्रति जनता की निराशा का परिणाम है। आज न्यायपालिका को यह भ्रम हो सकता है कि विधायिका और कार्यपालिका आपस में उलझी हुई हैं, इसलिए उसे मनमानी करने का अवसर मिल गया है। लेकिन यदि कभी विधायिका एकजुट होकर खड़ी हो गई, तो न्यायपालिका की यह मनमानी टिक नहीं पाएगी। समय की आवश्यकता है कि न्यायपालिका आत्ममंथन करे, अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर अपनी गरिमा और संतुलन को पुनः स्थापित करे। यही न्यायपालिका की वास्तविक शक्ति है।

अपराध के गंभीरता का मापन भी आवश्यक :

महिला और पुरुष के बीच विपरीत आकर्षण होता है महिला और पुरुष की तुलना पेट्रोल और आग से भी होती है। दोनों के बीच यदि दूरी घटेगी तो ब्लास्ट हो सकता है दूरी बढ़ेगी तो सृजन पर प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि महिला और पुरुष के बीच दूरी का शून्य होना ही सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसलिए महिला और पुरुष के बीच दूरी घटनी चाहिए या बढ़नी चाहिए यह समाज को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह कार्य परिवार कर सकता है या व्यक्ति स्वयं निर्णय कर सकता है। कोई व्यक्ति अपना हीरे का हार तिजोरी में रखता है घर में छुपा कर रखता है और यदि वह चोरी हो जाता है तो उसे गंभीर अपराध माना जाएगा। यदि कोई व्यक्ति अपना हीरे का हार सड़क पर रखता है और चोरी हो जाता है तो साधारण अपराध माना जाएगा। इसी तरह नई समाज व्यवस्था में हम यह व्यवस्था करेंगे की कोई महिला यदि अपने सतीत्व को सुरक्षित रखती है और उस पर कोई आक्रमण होता है तो वह बहुत गंभीर बलात्कार माना जाएगा। लेकिन यदि कोई महिला महिला और पुरुष के बीच दूरी घटाती जाती है और उसके साथ कोई आक्रमण होता है तो उसे साधारण अपराध माना जाएगा। आपको अपनी सुरक्षा भी करनी चाहिए। महिला द्वारा दूरी घटाने या बढ़ाने में क्या भूमिका है उस आधार पर अपराध की मात्रा तय होगी। इसीलिए बंगाल में जो घटना घटी है वह एक साधारण अपराध माना जाना चाहिए गंभीर अपराध नहीं। ममता बनर्जी ने जो कहा है वह बिल्कुल ठीक कहा है कि महिलाओं को भी अपनी सुरक्षा की चिंता करनी चाहिए। मैं नई समाज व्यवस्था में इस प्रकार की व्यवस्था करूंगा कि जो महिलाएं महिला और पुरुष के बीच दूरी बढाकर रखना चाहते हैं, उन पर आक्रमण को गंभीर अपराध माना जाएगा। जो महिलाएं महिला पुरुष के बीच दूरी को घटाकर रखना चाहते हैं ऊपर आक्रमण को सामान्य अपराध माना जाएगा।

ज़ूम चर्चा कार्यक्रम का सारांश

विषय: विकृत लोकतंत्र

भारतीय लोकतंत्र आज एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है, जहां विचार मंथन की जगह विचार प्रचार ने ले ली है। हमारी व्यवस्था प्रचार के सहारे चल रही है। चुनाव अभियानों से लेकर शासन की छवि बनाने तक हर जगह प्रचार माध्यमों का बोलबाला है। लोकलुभावन वादों, चुनावी रेवड़ियों और उपलब्धियों के बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति ने राजनीति को प्रदर्शनकला में बदल दिया है। परिणामस्वरूप सत्य, निष्ठा, उत्तरदायित्व और निष्पक्षता जैसे लोकतांत्रिक मूल्य हाशिये पर चले गए हैं।

वर्ग संघर्ष को भी राजनीति का औजार बना दिया गया है। समाज को बांटकर वोट बैंक तैयार किए जा रहे हैं। नारी सशक्तिकरण जैसे महत्वपूर्ण विषय को भी विभाजन के माध्यम में बदल दिया गया है। समानता के नाम पर स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव की खाई और चौड़ी हो रही है। यही प्रवृत्ति शासक और शासित के बीच की दूरी में भी दिखती है। सत्ता का केंद्रीकरण बढ़ा है, जबकि जनता की आवाज़ अपने प्रतिनिधियों तक पहुंचने में कमजोर पड़ गई है। यह स्थिति लोकतंत्र के प्रति लोगों में असंतोष पैदा कर रही है।

आजादी के बाद राजव्यवस्था ने समाज व्यवस्था को अपने नियंत्रण में ले लिया है। कानून और नियमों के जरिए व्यक्ति, परिवार, समाज और विवाह जैसी संस्थाओं में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। “लोक कल्याणकारी राज्य” की अवधारणा ने समाज को सुविधाभोगी और परावलंबी बना दिया है। राजनीति और समाज सेवा, जो कभी आदर्श कार्य माने जाते थे, आज करियर और व्यवसाय का रूप ले चुके हैं।

मानव स्वभाव में “ताप वृद्धि” भी लोकतंत्र की एक गहरी विकृति है। यह ताप लालच, क्रोध और लोभ के रूप में बढ़ रहा है। हम वैश्विक ताप वृद्धि की बात करते हैं, पर मानव स्वभाव की इस नैतिक उष्णता को अनदेखा कर देते हैं, जिसने समाज में असंतुलन और अशांति फैला दी है।

आज भारतीय राजनीति में व्यक्तिवाद अपने चरम पर है। नेहरू से लेकर मोदी तक व्यक्ति पूजा की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। नेहरू-गांधी परिवार ने छह दशकों तक सत्ता संभाली, और अब अन्य दलों में भी यही स्थिति है। प्रत्येक दल किसी न किसी व्यक्ति के इर्द-गिर्द घूमता है, विचार और सिद्धांत गौण हो गए हैं। परिणामस्वरूप लोकतंत्र कमजोर होता गया।

राजनीति का चरित्र भी लूट-खसोट जैसा बन गया है। सरकार बनने से पहले दल के सदस्य एकजुट रहते हैं, लेकिन सत्ता और पद बंटवारे के समय संघर्ष शुरू हो जाता है। गठबंधन सरकारों में यह प्रवृत्ति और स्पष्ट दिखती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोकहित की बजाय लोकप्रियता को प्राथमिकता दी जा रही है। यही लोकप्रियता की राजनीति लोकतंत्र को खोखला बना रही है।

आजादी के बाद अधिकारों की असमानता भी बढ़ी है। राज्य ने धीरे-धीरे समाज के सभी अधिकार अपने पास रख लिए। नतीजा यह हुआ कि राजसत्ता मजबूत होती गई और सामाजिक संस्थाएं कमजोर पड़ गईं। हमारे नेताओं ने सामाजिक और आर्थिक समानता पर तो चर्चा की, लेकिन राजनीतिक समानता पर मौन साध लिया। जबकि असल में आज सबसे बड़ी असमानता यही है — जनता और सत्ताधारी वर्ग के बीच का अंतर।

राजनीतिक रूप से देश दो प्रमुख विचारधाराओं में बंट गया है — वामपंथ और दक्षिणपंथ। सत्ता संघर्ष इतना व्यापक हो गया है कि लोकतंत्र की मूल भावना पीछे छूट गई है। चोरी, धोखाधड़ी, बलात्कार, जालसाजी जैसी सामाजिक बुराइयों में लगातार वृद्धि इसी नैतिक पतन का परिणाम है।

आदर्श और विकृत लोकतंत्र में मूलभूत अंतर यह है कि आदर्श लोकतंत्र में अधिकार समाज द्वारा दिए जाते हैं, जबकि विकृत लोकतंत्र में अधिकार संविधान या राज्य द्वारा दिए जाते हैं। आदर्श लोकतंत्र में तंत्र लोक के नियंत्रण में रहता है, जबकि विकृत लोकतंत्र में लोक तंत्र के अधीन हो जाता है। आज भारत इसी विकृत लोकतंत्र का उदाहरण बन गया है, जहां संगठन संस्थाओं पर हावी हैं, और व्यवस्था लोक के ऊपर हावी है।

भारत की लोकतांत्रिक जड़ें गहरी हैं, पर यहां के लोगों में अव्यवस्था सहने की क्षमता भी उतनी ही गहरी है। यह प्रवृत्ति लोकतंत्र की आत्मा को कमजोर कर रही है। वर्तमान संसदीय प्रणाली अल्पमत और बहुमत के टकराव पर आधारित है, जिसके कारण विपक्ष का कार्य केवल विरोध तक सीमित हो गया है। यह प्रवृत्ति अब ग्रामीण क्षेत्रों तक फैल चुकी है और समाज में विषाक्त माहौल पैदा कर रही है।

हमारा लक्ष्य लोक स्वराज है — ऐसी व्यवस्था जिसमें सत्ता समाज के नियंत्रण में हो, न कि समाज सत्ता के अधीन। विकृत लोकतंत्र से आदर्श लोकतंत्र की ओर बढ़ने के लिए जरूरी है कि हम सत्ता को समझें, जनमत का सम्मान करें, और सुधार के लिए रचनात्मक सहमति का मार्ग अपनाएं। यही भारतीय लोकतंत्र के पुनरुद्धार का रास्ता है।

साथियों की कलम से...

निरपेक्षता की कसौटी पर धर्म और पन्थ- (एक विमर्श-)

लेखक, विचारक नरेन्द्र सिंह

मत-मतान्तर के दृष्टिकोण से देखें तो किसी पान्थिक व्यवस्था का निरपेक्ष होना सृष्टि का दुरूह से दुरूहतम कार्य है। आधुनिक विश्व में भी हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, यहूदी इत्यादि मत-मतान्तर ऐसे पन्थ के रूप में व्यवहार में आते हैं कि वह अपने-अपने अनुयायियों के सामाजिक जीवन निर्वाह के लिए एक संरक्षित और बाध्यकारी व्यवस्था बनाते हैं। इनकी ऐसी कार्य प्रणाली का यह परिणाम आता है कि विभिन्न मत-मतान्तर को मानने वाले लोगों के बीच सामाजिक समन्वय हो ही नहीं पता है! ....अलबत्ता किसी हद तक हिन्दू धर्म को छोड दिया जाए तो धर्म कहे जाने वाले इन अन्य विषयों में धर्म के मौलिक स्वरूप का कोई लक्षण ही नजर नहीं आता है! दुनिया भर में धर्म परिवर्तन के अनर्गल प्रयास मानव सभ्यता के मुँह पर कालिख के समान प्रतीत होते हैं। इस दशा में निरपेक्षता के अस्तित्व पर प्रश्न न उठे यह कैसे सम्भव है?

वस्तुतः समाज तथा राज्य व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य पर विचार करें तो लोक-व्यवहार यह सिद्ध करता है कि पन्थ का साध्य धर्म नही हो सकता है! दूसरी ओर मतदान के आधार पर निर्मित कोई भी राज्य भले ही अपने को पन्थ-निरपेक्ष कहे, पर यह दावा एक मिथक से अधिक कुछ सिद्ध नहीं होता है! जैसे कि भारतीय राज्य व्यवस्था में समाजवाद को जीवित रखने के लिए पान्थिक, साम्प्रदायिक और जातीय आधार पर वोटों का ध्रुवीकरण करना आवश्यक हो गया है। इसी प्रकार दक्षिणपन्थी विचारधारा के राजनीतिक संगठनों को अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने के लिए धार्मिक आधार पर वोटों का ध्रुवीकरण करना आवश्यक हो गया है। इस दशा में भारतीय राज्य को पन्थ-निरपेक्ष राज्य कैसे कहा जा सकता है?

इस स्थिति को भली-भाँति समझने के लिए हमें 'पन्थ' की भाषिक एवं व्युत्पत्तिगत प्रकृति पर दृष्टि डालनी होगी। 'आचार्य कामता प्रसाद गुरू' के 'हिन्दी व्याकरण' के अनुसार 'पन्थ' संस्कृत भाषा का शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति मूल धातु 'पथ्' से हुई है। पथ गत्यर्थक धातु है जिसका अर्थ है 'गमन' या 'रास्ता'। पथ धातु में 'अन' प्रत्यय जुडकर 'पन्थ' शब्द बना है। यह शब्द केवल गमन का भौतिक अर्थ ही प्रदर्शित नही करता बल्कि यह धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी उपयोग में आता है। इस प्रकार 'पन्थ' शब्द की व्याकरणिक संरचना है: 'पथ्'+'अन'= 'पन्थ' अर्थात् मार्ग, और मार्ग को लोग अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्रयोग करते हैं। लेकिन इस प्रयोग के प्रकार में भी भेद निहित है। कोई स्वतन्त्र मस्तिष्क का व्यक्ति पन्थ की पद्धति का अंधभक्त नहीं होता और कोई अनुयाई अपने धर्म अथवा पन्थ के दृष्टिकोण पर कभी परिस्थितिजन्य विचार नही करता। यह परिस्थितिजन्य विचार का अभाव इस्लाम जैसी बन्द पान्थिक व्यवस्था का निर्माण करता है। जो समाज के अस्तित्व के लिए घातक है। इस दशा में कोई पन्थ-निरपेक्ष व्यवस्था कैसे बनाई जा सकती है? वस्तुतः विचार-विनिमय या परस्पर विमर्श धर्म, दर्शन और आध्यात्म के मूल-भूत गुणों को हमारे सामने स्पष्ट करते हैं। इसी क्रम में धर्म, दर्शन और आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर पान्थिक दुष्प्रभावों का प्रश्न उठता है कि व्यक्ति कब धार्मिक है? कब उसका जीवन, दर्शन की कसौटी पर खरा उतर रहा है और कब वह आध्यात्म की मर्यादा का पालन कर पा रहा है? संक्षेप में तो इसका उत्तर यह है कि व्यक्ति जब अस्तित्व को निजता की सीमा में न बांधकर समन्वय के रास्ते पर चलता है तो वह पान्थिक दुष्प्रभावों से भी बचता है और धर्म, दर्शन तथा आध्यात्म की कसौटी पर भी खरा उतरता है।

अलबत्ता क्या कोई व्यक्ति उस समय धार्मिक कहा जा सकता है जब वह अपने पन्थ अथवा साम्प्रदायिक जीवन पद्धति का पालन करने के लिए समाज की मर्यादा का उल्लंघन करता है! यह मानव सभ्यता के विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोणों के आपसी टकराव का प्रश्न है। ऐसे ही टकराव भयंकर मानवीय हिंसा का रूप लेते रहे हैं। और ऐसा होने का बडा सरल कारण यह है कि जब व्यक्ति अपनी पान्थिक व्यवस्था को अन्तिम सत्य मान लेता है तब सभ्यता का अस्तित्व मूढ़ता का शिकार हो जाता है। दुनिया में भारत इस दशा का बहतरीन उदाहरण है। यहाँ अनेक मत-मतान्तर, पन्थ और सम्प्रदायों के दृष्टिकोण को अपनी जीवन पद्धति मानने वाले लोग रहते हैं और इस आधार पर भीड के बीच परस्पर वैचारिक टकराव की स्थिति बनी रहती है। उस पर भी तमाशा यह है कि राज्य पन्थ निरपेक्ष है और यहाँ सरकार समाजवादियों की बने या राष्ट्रवादियों की, दोनों के लिए ही किसी न किसी प्रकार साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में जब भीड़ का किसी न किसी प्रकार साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण हो रहा है तो राज्य, पन्थ-निरपेक्ष कैसे रह सकता है?

यह विमर्श यह प्रश्न भी पैदा करता है कि क्या धर्म और पन्थ के बीच कोई अन्तर सम्बन्ध भी हो सकता है? वस्तुतः पन्थ के अस्तित्व को मै इस प्रकार समझ पाया हूँ कि अक्सर पन्थ के अनुयायी धर्म के मूल भाव या आदर्श आचरण से दूर रह जाते हैं। पन्थ किसी कालखण्ड के किसी विशिष्ट धार्मिक या दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर विकसित होता है, जो उस देशकाल परिस्थित की आवश्यकता रहा होता है। लेकिन कालान्तर में उसका व्यवहार और प्रथाएँ यथार्थ की कसौटी से इसलिए भटक जाते हैं कि परिस्थितिवश समाज का आकार-प्रकार बदल जाता है। लेकिन पन्थ अपनी निर्वाह

पद्धति में कोई बदलाव स्वीकार नहीं करता है। दूसरी ओर धर्म विषय-वस्तु के लिए यथार्थ का दर्पण होता है। विषय वस्तु इसी दर्पण में अपना यथार्थ, अस्तित्व, उत्तरदायित्व और नैतिकता की छवि देखती है।

मेरे विचार से पन्थ, धर्म के पूर्ण और शुद्ध आचरण का प्रतिनिधि नहीं होता। ऐसा होना सम्भव नहीं है। क्योंकि पन्थ की पहचान भीड़ के किसी भाग की सामूहिक मान्यताओं, नेतृत्त्व और सांस्कृतिक अंतःक्रिया से जुड़ी होती है, इसी दशा का विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। इस विमर्श के विश्लेषण स्वरूप मुझे यह कहने में कोई हर्ज नहीं हो रहा है की धर्म में निरपेक्षता स्वाभाविक रूप से निहित होती है जबकि पन्थ कभी-भी निरपेक्ष नहीं हो सकता है। यदि विभिन्न पन्थो को उनकी पान्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करके कोई देश स्वयं को पन्थ-निरपेक्ष घोषित करता है तो यह करण उसकी सीमाओं में भयंकर पान्थिक और साम्प्रदायिक वर्ग संघर्ष का कारण बन सकता है। भारत के संविधान में भारत को एक पन्थ-निरपेक्ष राज्य घोषित करना एक बे-बुनियाद और निरर्थक प्रयास है। इसके स्थान पर लोगों को धर्म के मूलभूत आचरण को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना समाज और मानवता के लिए अधिक सार्थक कार्य रहेगा।

जेएनयू विवाद: विचारधारा की आड़ में हिंसा: (ज्ञानेन्द्र आर्य)

कश्मीर फाइल्स फिल्म का एक डायलॉग है - "सरकार भले उनकी है, लेकिन सिस्टम हमारा है।" इसका उदाहरण आज मीडिया रिपोर्ट्स में साफ दिखाई दे रहा है। मैंने लगभग हर मीडिया चैनल और समाचार एजेंसी की खबरों को खंगाला, लेकिन जेएनयू में एबीवीपी और वामपंथी छात्र संगठनों के बीच हुए विवाद की पूरी वस्तुस्थिति कहीं स्पष्ट नहीं हो पाई।

दिल्ली के कुछ मित्रों से फोन पर बात की। जो जानकारी छनकर आई और जो समाचार एजेंसियों में प्रकाशित हुई है, दोनों में जमीन–आसमान का फर्क है। ज़्यादातर समाचार पत्र और चैनल सिर्फ इतना बता रहे हैं कि कल जेएनयू में एबीवीपी और वामपंथी छात्र संगठनों के बीच हाथापाई की स्थिति बनी। लेकिन यह स्थिति क्यों और कैसे बनी, इसके कारणों पर किसी ने विस्तार से नहीं बताया।

समाचार एजेंसियों के अनुसार, विवाद की शुरुआत यूपी–बिहार के छात्रों को लेकर की गई टिप्पणी से हुई। दरअसल, वामपंथी छात्र संगठन AISA के एक काउंसलर ने मीटिंग में कहा कि यूपी और बिहार के छात्रों को जेएनयू से बाहर फेंक देना चाहिए। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (जो संघ का एक अनुषांगिक संगठन है) ने इस आपत्तिजनक वक्तव्य का विरोध किया। विद्यार्थी परिषद के छात्रों ने अपनी बात शांति और संयम से रखी, लेकिन वामपंथी छात्र उग्र हो गए और हाथापाई पर उतर आए।

जैसा मैं पहले भी कहता रहा हूं, साम्यवाद हिंसा, झूठ और नफरत की जमीन पर खड़ी एक विचारधारा है। वर्तमान परिस्थितियों में, जब वामपंथ सत्ता और सियासत से दूर होता जा रहा है, उसकी झुंझलाहट हिंसा के रूप में सामने आ रही है। मुझे मोहन भागवत, मोदी और योगी सरकार पर पूरा भरोसा है कि वे हिंसा को नियंत्रित करने में कोई कसर नहीं छोड़ेंगे।

फिर भी, समाज में सुख और शांति से जीने की इच्छा रखने वाले लोगों से मेरी अपील है कि किसी भी तरह इन वामपंथियों के बहकावे में न आएं। आज जब पूरा देश गांधी के सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए एकजुट है, तो निश्चित रूप से झूठ, नफरत और हिंसा की दुकानें जल्द ही बंद हो जाएंगी।

गतांक से आगे ...

जीवन पथ

भारत में नक्सलवाद गम्भीर सामाजिक समस्या है, जो राज्य के आर्थिक कुप्रबन्धन तथा समाज की प्राकृतिक स्थिति के विरूद्ध समाज में वर्गभेदीय संवैधानिक व्यवस्था के ढाँचे के दुष्प्रभावों से उत्पन्न हुई है और राज्य इस समस्या का सदैव राजनीतिक समाधान खोजता रहता है। क्या इस विषय में सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण त्यागकर राज्य, प्रशासनिक हथकण्डो से समाज को इस समस्या से मुक्ति दिला सकेगा? मेरा दावा है कि ऐसा कभी नहीं हो सकेगा! क्योंकि शक्ति के द्वारा शत्रु को पराजित किया जा सकता है। प्रशासनिक हथकण्डो से स्वंय उस समाज को बहुत लंबे समय तक गुलाम बना कर नहीं रखा जा सकता है जो उस व्यवस्था की स्थापना का कारक है। हमारे व्यवस्थापकों को यह ध्यान रखना होगा कि व्यवस्था (राज्य) कभी-भी जीवन की मूल स्वतन्त्रता की प्रदाता नहीं होती है। वह केवल उसे प्राप्त करने वाले कारक की सुविधा का प्रबन्धन कर सकती है। नक्सलवाद इस स्वतन्त्रता की सीमाओं में राज्य के अतिक्रमण का परिणाम है। जिसने ठीक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गलत साधनों का प्रयोग शुरू किया और कालान्तर में वह भी राज्य की तरह अपनी नीति व नीयत दोनों प्रकार से ही समाज पर सत्ता स्थापित करने का लक्ष्य बना बैठा है

इसलिए देश में यह समाप्ति की ओर है। मेरे विचार से समाज को ऐसे लोगों पर कोई विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि जो गलती राज्य कर रहा है वही गलती इस विचार-धारा को मानने वाले लोग भी कर रहे हैं। दोनों का उद्देश्य समाज की व्यवस्था का प्रबन्धन करना नहीं अपितु समाज पर शासन की स्थापना करना है। शक्ति-सम्पन्न राज्य को इस सामाजिक समस्या का सामाजिक व आर्थिक समाधान खोजना चाहिए, राजनीतिक नहीं। इसी प्रकार भारत में ही नहीं वरन दुनिया भर में आर्थिक असमानता विभिन्न देशों के गलत सामाजिक एवं आर्थिक प्रबन्धन का परिणाम है। इस विषय में भारत की स्थिति से मेरा जन्मजात परिचय होने के कारण मैं भारत का उदाहरण दूंगा। .....समाज में आर्थिक असमानता पूँजी वितरण के कारण उत्पन्न हुआ विषय नहीं है और न इस समस्या का निराकरण इस राजनीतिक सिद्धान्त के द्वारा हो सकता है कि समाज में उपस्थित पूँजी का समाज में समान वितरण कर दिया जाए।